नई धारा

८

८
७
३
२
०

७
५५
६१
४

१३
१४
४
१
७

नई धारा

मासिक पत्रिका

प्रधान सम्पादक
श्री रामवृक्ष बेनीपुरी

सहकारी सम्पादक
श्री वीरेन्द्र नारायण

चित्रकार
मुहम्मद इस्माइल

प्रबंध सम्पादक
श्री उदयराज सिंह

वार्षिक मूल्य
दस रुपया

एक प्रति
एक रुपया

अशोक प्रेस

महेन्द्रू

पटना

न

वर्ष १ आषाढ़,

अ

लेखनी उन्हीं की

पटना
२।६।५०

प्रिय बेनीपुरी जी, नमस्कार ।

'नईधारा' के दो अंक मिले । धन्यवाद । ऐसी पत्रिका की बड़ी आवश्यकता थी । सारा संसार एक-सांस्कृतिक संकट से गुजर रहा है । हमारे देश में तो इस संकट ने उग्ररूप धारण किया है । एक ओर वे लोग हैं जो वर्तमान युग के सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यों को नहीं पहचानते । विश्व और मानव के प्रति उनकी दृष्टि बड़ी संकीर्ण है । जिन शक्तियों के आधार पर देश स्वतंत्र हुआ है उन्हीं की वे अवहेलना करना चाहते हैं । ये शक्तियां राष्ट्रपिता और जनतंत्र की हैं । उनकी राष्ट्र-भावना भी संकीर्ण है । वे यह नहीं समझ पाये कि आज की राष्ट्रीयता धर्मविशेष के आधार पर नहीं आश्रित है किन्तु वह सम्प्रदायों का अतिक्रमण कर चुकी है । प्राचीन भारत का वे बात-बात पर नाम लेते हैं किन्तु अपनी प्राचीन संस्कृति की अन्तरात्मा से वे भलीभांति परिचित नहीं हैं। इसके विपरीत दूसरी ओर वे लोग हैं जो प्राचीन संस्कृति के उत्कृष्ट अंशों को सुरक्षित रखते हुए आज के युग की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं से भलीभांति परिचित हैं और एक उदार व्यापक दृष्टि को सामने रखकर अन्तर्राष्ट्रीय आदर्शों और हितों के आलोक में राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार करते हैं । मेरा विश्वास है कि 'नई धारा' इस दूसरे पक्ष का प्रतिनिधित्व करती है । इसी विचारधारा का अनुसरण करने में भारत और संसार का कल्याण है ।

—नरेन्द्र देव

लिए भारत में उपयुक्त बात है ? हमारी योजनायें तो भारतीय लोगों के जीवन से संबंधित होनी चाहिये और ऐसा होने से उनका कल्याण भी होगा।

लोगों के जीवन का मापदंड बढ़ाने के लिए आज जरूरत इस बात की है कि उन्हें काम दिया जाय। उत्पादन व खर्च को स्थानिक महत्व प्रदान करना चाहिये। वहाँ के लोगों की जरूरतों के अनुसार वह होना चाहिये। उत्पादन की वृद्धि शौकिया चीजों व आराम की चीजों के रूप में न होकर जनता की आवश्यकताओं के अनुसार होनी चाहिये।

न्यूयार्क व लासएँजिल्स को माल निर्यात करने की सरकार की जापानी ढंग की पद्धति बेबुनियाद सिद्ध हुई है। उसका कतई स्वागत नहीं हुआ है। ऐसी योजनाओं का उद्देश्य डालर कमाना होता है, जो कि ग्रामीणों के किसी भी उपयोग का नहीं होता। हमारे सभी प्रयत्न देश की ग्रामीण जनता को सुधारने के लिए होने चाहिये। हम एक ओर तो जनता की स्थिति सुधारने की बातें करते हैं और साथ ही साथ दूसरी ओर जिनके पास पूंजी व कौशल्य नहीं है, उन्हें काम देने की सुविधायें छीनते हैं। ऐसा क्यों ?

सुस्पष्ट विचारधारा व उत्कृष्ट योजना के अभाव में सरकार के प्रयत्न पुनःस्थापन के मामले में असफल सिद्ध हुए हैं। बहुत से शरणार्थी मध्यमश्रेणी के लोग रहे हैं। वे अब भी मध्यमश्रेणी के बने रहेंगे, तो संकट की बात होगी। शरणार्थियों के आगमन से हमें अधिक माल की जरूरत होगी किन्तु हमारे पास तो माल कम है और अगर इससे ही उनके पोषण की जिम्मेदारी हम लेंगे तो संकट उत्पन्न होगा। इसलिए शरणार्थियों की समस्या को सुलझाने के लिए हमें यह करना चाहिये कि वे लोग उत्पादक बनें व उनके माल के लिए हम बाजार तैयार करें। जो माल शरणार्थी बेचते हैं, उस किस्म के माल के आयात पर प्रतिबंध लगाना चाहिये।

हमारा प्रयत्न इस बात का हो कि हम आत्मनिर्भर बनें और अपने उपयोग के लिए माल तैयार कर लें और जिस क्षेत्र में जिस माल की आवश्यकता हो, वह माल तैयार किया जाय। लोग माल तैयार करें और उपयोग में लावें—तब ही यह समझेंगे कि जनता की सच्ची भलाई का हम कार्य कर रहे हैं।
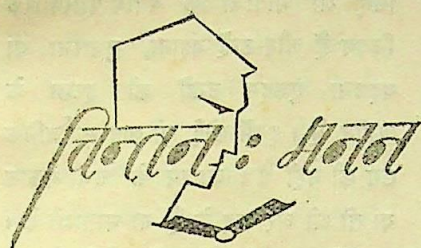
योगिराज अरविन्द और उनका पूर्णयोग

श्री साँवलिया बिहारीलाल वर्मा

१५ अगस्त सन् १८७२ ई० को कलकता में श्री अरविन्द का जन्म हुआ। सन १८९१ में अपने दो बड़े भाइयों के साथ शिक्षा प्राप्त करने के लिए आप इंगलैण्ड भेजे गये। वहाँ १४ वर्षों तक आप का निवास हुआ। मैनचेस्टर के एक अंग्रजी परिवार में आप का लालन-पालन हुआ। १८९० में आपने आइ० सी० एस० परीक्षा पास की पर इसके दो वर्ष के अभ्यासक्रम के अन्त में घुड़सवारी की परीक्षा में हाजिर नहीं होने के कारण अनुपयुक्त समझे गये। बाद बड़ौदा राज्य को सेवा स्वीकार कर वहाँ १९०६ तक रहे। बड़ौदा में श्री अरविन्द ने संस्कृत का अध्ययन किया। १९०५ में वंग-विच्छेद के कारण जो आन्दोलन उठा, उसके चलते १९०६ में बड़ौदा छोड़कर नव-स्थापित बंगाल नैशनल कालेज के प्रिन्सपल होकर आप कलकत्ता आये।

१९१० तक श्री अरविन्द राजनैतिक कार्य में लगे रहे। इन्हीं दिनों महाराष्ट्र के लोकप्रिय नेता बाल-गंगाधर तिलक को लोकनायक मान कर राष्ट्रीयदल कायम हुआ और आप उसमें सम्मिलित हुए। इसी समय "बन्देमातरम्" नामक दैनिक पत्र का प्रकाशन आरम्भ हुआ और श्री अरविन्द उसके सम्पादक बनाये गये। आप के प्रभाव के कारण राष्ट्रीयदल ने इसे अपना मुखपत्र माना। १९०७ में आप राजद्रोह के मामले में गिरफ्तार किये गये किन्तु बेलाग छूट गये। १९०८ के मई में अपने भाई वारीन्द्र के क्रान्तिकारी दल की कारवाइयों के सम्बन्ध में अरविन्द फिर गिरफ्तार किये गये पर उनके विरुद्ध कोई भी प्रमाण नहीं मिला; अतएव आप छोड़ दिये गये। फैसला तक एक वर्ष आप को अलीपुर जेल में अभियुक्त कैदी की तरह रहना पड़ा। १९०९ के मई में आप छूट गये। जेल से छूटने के बाद ही आपने उत्तरपाड़ा में भाषण दिया जिसमें आपके आध्यात्मिक जीवन की स्पष्ट झलक थी।

अलीपुर जेल में बारह मास तक जो बंद रहना पड़ा, उन्होंने उस समय को योगाभ्यास में व्यतीत किया। आध्यात्मिक

जीवन के लिए आपने एकान्त सेवन की आवश्यकता का अनुभव किया। १९१० के फरवरी मास में चन्द्रनगर के एक निर्जन स्थान में रहने के लिए चले गये और अप्रेल महीने में समुद्र के रास्ते पांडिचेरी पहुँचे। जिस समय बंगाल से गये, अनुकूल परि-स्थितिं में वापस आकर राजनैतिक क्षेत्र में काम करने का आपका विचार था। किन्तु बहुत शीघ्र ही आप को अनुभव हुआ कि जो आध्यात्मिक कार्य आपने हाथ में लिया है, उसीमें सब तरफ से मन हटाकर तनमन प्राण से लग जाना पड़ेगा। तब से अरविन्द अपने आध्यात्मिक कार्य और साधना में ही सर्वतः लगे हुए हैं।

पांडिचेरी में श्री अरविन्द ने पहले ४–५ अनुयायियों के साथ एकान्त सेवन किया। फिर धीरे-धीरे कुछ और लोग आकर सम्मिलित हो गये। उसके बद सन १९२० में जब श्री माताजी* ने आकर उनके साथ योग दिया तब लोग इतनी अधिक संख्या में आने लगे कि उनके रहने का बन्दोबस्त करना अत्याश्यक समझा गया और इस उद्देश्य से आवश्यकता के अनुसार कुछ मकान खरीदे गये और कुछ भाड़े पर लिये गये। इस प्रकार आश्रम की स्थापना और विस्तार हुआ। आश्रम की व्यवस्था के लिए श्री माताजी के बनाये पारिवारिक नियम हैं और उन्हें बढ़ाना, सुधारना या बदलना एकदम उन्हीं की इच्छा के अधीन है। इनमें कोई भी बात सार्वजनिक ढंग की नहीं है। आश्रम के सभी मकान या तो श्री अरविन्द के हैं या माताजी के। बहुत से लोग श्रीअरविन्द केकार्य में सहायता करने के लिए धन देते हैं। किन्तु इस तरह जो कुछ देते हैं संस्था समझकर आश्रम को नहीं देते क्योंकि ऐसी कोई संस्था है ही नहीं।

आश्रमवासियों को सभी प्रकार के धार्मिक, राजनैतिक तथा सामाजिक प्रचार-कार्य से अलग रहना पड़ता है।

यह आश्रम कोई धर्म-संघ नहीं है। यहां पर सभी धर्म के लोग हैं और कुछ ऐसे भी हैं जिनका कोई धर्म नहीं है। यहां पर कोई मतवाद नहीं है। कोई शासक धर्म-सभा नहीं है। यहां पर श्री अरविन्द की शिक्षा है तथा एकाग्रता और ध्यानादि की कतिपय आन्तरिक साधनायें हैं जिनका अभ्यास चेतना को प्रसारित करने, कामना-वासना पर विजय प्राप्त करने, सत्य को ग्रहण करने की क्षमता प्राप्त करने, प्रत्येक मनुष्य के अन्दर निहित दिव्य आत्मा और चेतना का आविष्कार करने तथा प्रकृति का उच्चतर विकास साधित करने के लिए किया जाता है।

श्री अरविन्द ने अनेक पुस्तकें लिखी

---

*माता जी एक फ्रेन्च वृद्ध महिला हैं और साधनापथ में काफी अग्रसर हो चुकी हैं।

हैं जिनमें गीता विषयक निबन्ध "एसेज ऑन गीता" और दिव्य जीवन "डिवाइन लाइफ" सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं। अन्य ग्रन्थ भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के प्राण वेदों का वास्तविक अर्थ, मनुष्य जाति की प्रगति, काव्य का स्वभाव और विकास, मनुष्यजाति के एकीकृत होने की सम्भावना इत्यादि विषयों पर हैं। यहाँ से अंग्रेजी एवं बंगला के अतिरिक्त हिन्दी पत्रिका 'अदिति' निकलती है। १९४७ के स्वतन्त्रता दिवस से वार्षिक पत्रिका "अर्चना" निकलने लगी है।

श्री अरविन्द आज भी एकान्त में आश्रम के ऊपर के कमरे में रहते हैं। वर्ष में चार दिन १५ अगस्त, २४ नवम्बर, २१ फरवरी और १५ जून को छोड़ कर, माता जी एवम् दो चार प्रतिष्ठित साधकों के अलावा, किसी को दर्शन नहीं होता। दूर दूर से दर्शनार्थी उक्त तिथियों पर पाँडिचेरी पहुँचते हैं। पाँडिचेरी में एक दो दिन पहले से काफी चहल-पहल रहती है। मकान मिलना अत्यन्त कठिन हो जाता है, होटलों में स्थान की तो बात ही क्या? अनेक भक्त साल भर के लिए कमरा लेकर रखे रहते हैं जिसमें उपरोक्त तिथियों पर उन्हें ठहरने का स्थान मिल सके। बिना प्रवेश-कार्ड के किसी को दर्शन नहीं मिल सकता; कितनी भी दूर से काफी व्यय करके भले ही कोई आया हो। प्रति दिन भोर में ६-३० बजे बालकनी पर माताजी खड़ी हाथ जोड़े चुप-चाप दर्शकों को निहारती रहती हैं। रात्रि में आठ बजे दर्शनार्थियों को माताजी का दर्शन होता है और आशीर्वाद में फूल मिलता है। इसके लिए भी प्रवेश-कार्ड मिलता है। अतएव दर्शनार्थियों के लिए पहले से ही लिखा-पढ़ी करके प्रवेश-कार्ड प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

श्री अरविन्द का दर्शन दो बजे दिन से आरम्भ होता है। फूल एवम् तुलसीपत्र की माला लेकर दर्शनार्थी आश्रम के आँगन में फर्श पर बैठ जाते हैं, दस बीस दर्शनार्थी कत्तार बाँध कर ऊपर जाते हैं और क्रम-क्रम से योगी अरविन्द के पास फूल-माला आदि लेकर उपस्थित होते हैं। अभ्यर्थना सिर नवाकर करते हैं और पास ही रखे हुए बक्स में फूल-माला इत्यादि डाल कर आगे बढ़ते हैं। दालान के भीतर चौकी पर पलथी मार कर श्री अरविन्द बैठे रहते हैं। बगल में माताजी बैठी रहती हैं। जैसे ही दर्शनार्थी दरवाजे के सामने पहुँचता है श्री अरविन्द की भव्य मूर्ति का दर्शन होता है। गोरा-चिट्टा बदन, सफेद बाल एवम् दाढ़ी, चमकती तेज पूर्ण आँखें, सिल्क की धोती पहने और चादर ओढ़े एक टक दर्शनार्थी की ओर देखते रहते हैं। इस प्रकार से प्रथम दर्शन के समय से लेकर सम्मुख उपस्थित होकर श्रद्धाञ्जलि के रूप में फूल-माला चढ़ाने के समय तक प्रायः दो-तीन मिनट दर्शन होता है। इसी

क्षणिक दर्शन के लिए दूर-दूर से लोग काफी द्रव्य व्यय करके और कष्ट सह कर आते रहते हैं। दर्शनार्थी एक रास्ते से आते हैं और दूसरे से निकलते हैं। कार्य शान्ति पूर्वक सम्पादन होता है और प्रबन्ध सुन्दर रहता है। आश्रम के फाटक पर हर प्रवेश-कार्ड को देख कर स्वयंसेवक जूता, छड़ी आदि ले लेते हैं और उसके लिए टिकट दे देते हैं। जब दर्शनार्थी आश्रम के दूसरे छोर से दर्शन के बाद निकलता है, तब वहां उसे अपना जूता, छाता आदि प्रस्तुत मिलता है। बड़ा ही सुन्दर प्रबन्ध है। साधकों के छोटे छोटे बच्चे इस कार्य का सम्पादन करते हैं।

आश्रम में सुन्दर पुस्तकालय है जो आध्यात्मिक विषय के अध्ययन का साधन प्रस्तुत करता है। वाचनालय भी है जहां भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्त की अनेक पत्र-पत्रिकायें भिन्न भिन्न भाषा में प्राप्य हैं।

आश्रमवासियों को सादा और सात्विक भोजन मिलता है। बाहर से आये हुए भक्त को दोनों समय भोजन और सुबह के नाश्ते के लिए ढ़ाई रुपया देना पड़ता है। भोजन के ढंग एवम् भोज्य पदार्थ में पाश्चात्य देश के भोजन का कुछ आभास मिलता है। यहां भोजन करनेवाले ही अपने हाथ में थाली लेकर बांटने वाले के पास जाते हैं। खानेवाले को स्वयम् भिन्न-भिन्न स्थान पर जा कर अपनी इच्छानुसार भिन्न-भिन्न खाद्य पदार्थ लेना पड़ता है। सामान लेकर चटाई पर बैठ कर भोजन करनेवाले भोजन करते हैं और थाली लोटा आदि को पृथक पृथक स्थान पर रख देते हैं जिन्हें साधक साफ करते हैं!

श्रीअरविन्द ने एकबार कहा था — "हमारा योग हमारे लिए नहीं प्रत्युत् मनुष्य जाति के लिए है।" अतएव लोगों ने स्वभावतः समझा था कि श्रीअरविन्द का योग एक आधुनिक चीज़ है और उसका लक्ष्य है मनुष्य जाति की सेवा। इन लोगों के विचार से श्रीअरविन्द का योग ऐसा कौशल था, जिससे कुछ ऐसी अदृष्ट शक्तियों का पता लगे और उनसे काम लिया जाय जोकि मनुष्य-जीवन को अच्छा करने और उसका दुख दूर करने में बौद्धिक और वैज्ञानिक पद्धतियों से अधिक काम कर जाय। जब श्रीअरविन्द ने देखा कि आपके कथन का दूसरा अर्थ लोग लगा रहे हैं तब उन्होंने अपना शब्द बदलकर कहा—'हमारा योग मनुष्य जाति के लिए नहीं बल्कि परमात्मा के लिए है।" जो लोग समझते थे कि योग-साधन कर श्रीअरविन्द देश का नेतृत्व ग्रहण करेंगे, उन्हें निराशा हुई।

श्रीअरविन्द की साधना के लक्ष्य का ठीक-ठीक अनुमान करना हो तो यह अच्छा होगा कि हम उनके दिये हुए दोनों वचनों को एक करके यह कहें कि उनका उद्योग मनुष्य जाति में भगवान् को पाना और प्रकट करना है। यही सेवा है जो वह मनुष्य जाति की करना चाहते हैं—अर्थात् मनुष्य

जाति में भगवान् को अभिव्यक्त और मूर्तिमान करना। मनुष्य जीवन का केवल दुःख दूर करना नहीं बल्कि उसका सर्वथा परिवर्तन और रूपान्तर करना, मनुष्य जीवन को दिव्य बनाना ही उनका लक्ष्य है। योग का अर्थ है आत्मोपलब्धि की पूर्णचेतना, जिसके प्रकाश में मनुष्य यह देख सकता है कि वह किस लिए जन्मा है और जान सकता है अपना असली स्वाधिकार। योग का लक्ष्य है मनुष्य की प्रत्येक शक्ति को शुद्ध निर्मल बनाकर उसकी चरम परिणति तक पहुँचा देना।

श्रीअरविन्द अपने अंगरेजी पुस्तक "योग और उसका उद्देश्य" "योग एँड इट्स ओब्जेक्टस" में लिखते हैं—"आजकल मनुष्य और सभी वस्तुओं की प्रकृति बेमेल हो गई है। उसकी सुरसंगति बेसुरी हो गई है। उसे सामञ्जस्यपूर्ण बनाने के लिए मनुष्य के सम्पूर्ण हृदय, कर्म और मन को परिवर्तित करना होगा। पर यह परिवर्तन अन्दर से करना होगा, बाहर से नहीं। न तो राजनैतिक और सामाजिक संस्थाओं के द्वारा, न धार्मिक मतवादों तथा दर्शन शास्त्रों के द्वारा ही करना होगा। बल्कि अपने अन्दर और जगत् के अन्दर भगवान् की उपलब्धि करके और उस उपलब्धि के द्वारा जीवन को एक नये सांचे में ढाल करके करना होगा। यह परिवर्तन केवल पूर्णयोग के द्वारा ही हो सकता है। पूर्णयोग एक ऐसा योग है जिसकी साधना किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिए नहीं है। भले ही प्रयोजन मुक्ति या आनन्द प्राप्त करना ही क्यों न हो? बल्कि अपने अन्दर और दूसरों के अन्दर दिव्य मानवता को चरितार्थ करने के लिए ही की जाती है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए हठ योग और राजयोग की साधनाएँ पर्याप्त नहीं है और न त्रिमार्ग (ज्ञान, कर्म और भक्ति) ही यह कार्य पूरा कर सकता है। उसके लिए हमें और भी ऊपर उठना होगा और आध्यात्मयोग का आश्रय ग्रहण करना होगा। इस आध्यात्मयोग का मूल सिद्धान्त ज्ञान की दृष्टि से उन समस्त वस्तुओं को जिन्हें हम देखते हैं या जिन्हें देखते तो नहीं हैं पर जिन्हें हम जानते हैं—मनुष्य, वस्तुएँ, स्वयम् हम, घटनाएँ, देवता, दानव और देवदूत सबों को एक परब्रह्म के रूप में अनुभव करना और भाव की दृष्टि से उन परात्पर पुरुष को—विश्वातीत और विश्वव्यापी पुरुष को—पूर्ण आत्मसमर्पण करना जो एक साथ ही साकार और निराकार है, शान्त और अनन्त है, स्वात्म सीमित और असीम है, एक है, बहु है, तथा ऊपर रहने वाले मनुष्य, कीट और मिट्टी के ढेले तक को अपनी सत्ता से परिपूरित करता है। यह समर्पण पूर्ण होना चाहिये। कुछ भी अपने लिए बचा कर नहीं रखना चाहिये, कोई कामना, वासना, कोई माँग, कोई राय—यही होगा और यह नहीं हो सकता, यही होना चाहिये और यह नहीं—नष्ट हो जाना चाहिए। पूर्ण आत्मसमर्पण का यह भाव

यदि अपूर्ण रूप में भी स्थापित हो जाय, तो फिर यौगिक क्रिया की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।"

इस योग की सबसे पहली प्रक्रिया है आत्म-समर्पण का संकल्प करना। हमें अपने समूचे हृदय और सारी शक्ति के साथ अपने आपको भगवान के हाथों सौंप देना चाहिए : कोई शर्त न रहे, कोई चीज न माँगी जाय, यहाँतक कि योगसिद्ध भी न माँगी जाय। जो लोग अपने आपको दे देते हैं और कुछ भी नहीं माँगते उन्हें भगवान् सब चीज दे देते हैं। यह आवश्यक है कि तुम निस्पृह, निर्द्वन्द्व और निरहंकार हो जाओ—वस्तुओं को प्राप्त करने की इच्छा से, द्वन्द्वों के संस्कारों से तथा अहंकार से रहित हो जाओ, क्योंकि वे तीनों आत्मसमर्पण के प्रधान शत्रु हैं।

योग की दूसरी प्रक्रिया है द्रष्टा भाव से अलग होकर अपने अन्दर दिव्य शक्ति की क्रिया को देखना। दिव्य शक्ति की यह क्रिया जब हमारे अन्दर होती है तब बहुधा देहादि में विक्षोभ और कष्ट उत्पन्न होता है। अतएव श्रद्धा का होना अत्यन्त आवश्यक है, यद्यपि पूर्ण श्रद्धा का एकबारगी होना सदा सम्भव नहीं है। क्योंकि हमारे अन्दर जो कुछ मलिनता है—चाहे वह बाहर दिखाई पड़ती हो या भीतर छिपी पड़ी हो—वह आरम्भ में उमँड़ पड़ती है और जब तक वह जड़मूल से बाहर नहीं निकाल दी जाती तबतक वह बराबर आक्रमण करती रहती है और इस अवस्था में सन्देह का उत्पन्न होना एक ऐसी मलिनता है जो प्रायः सभी साधकों में पाई जाती है। जब कोई भीतरी कष्ट तुम्हें सतावे या बाहर से आक्रमण करे तब सदा गीता के इन शब्दों को स्मरण करना चाहिये—"कच्चितः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि" अर्थात् अपने आपको हृदय और मनसे मुझे दे देने से तू समस्त कठिनाइयों और संकटों को मेरे प्रसाद से पार कर जायगा। चाहे कोई रोग शोक हो, या शंका उत्पन्न हो या हृदय में कोई पाप या शंका उमँड़ती हो—किसी बात से जरा भी घबड़ाना न चाहिये। केवल भगवान को दृढ़तापूर्वक पकड़े रहना चाहिये। भगवान कहते हैं—"अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः" अर्थात् मैं तुम्हें समस्त पापों और दोषों से मुक्त कर दूँगा—अतः स्वयं भगवान ही मुक्त कर देंगे। किन्तु यह मुक्ति अचानक किसी चमत्कार के रूप में नहीं आती, यह पवित्रीकरण की एक प्रक्रिया द्वारा आती है। और ये सब चीजें उसी प्रक्रिया का एक अंग हैं। अपने आपको अलग कर लेना, कर्तृत्वाभिमान का त्याग कर देना, उस समय मनुष्य के लिए आसान हो जायगा; जब मनुष्य यह समझ जायगा कि यह आधार क्या है। साधारण तौर पर इस आधार के जिन भागों को हम जानते हैं, जिनके विषय में हम सचेतन हुए हैं, वे, शरीर हैं प्राण और अन्तष्करण चतुष्टय (चित्त, मन, बुद्धि और अहंकार) परन्तु अन्तष्करणकी उच्चतम वृत्ति से भी परे पराबुद्धि या विज्ञान है जो सत्यधर्म, सत्य

ज्ञान, सत्यकर्म का धाम है और उस आदर्श वृत्ति से भी ऊपर है जिसमें मनुष्य का दिव्य अंश निवास करता है। जब ईसा ने यह कहा था कि भगवान का राज्य तुम्हारे अन्दर ही है तब उनका अभिप्राय इसी विज्ञान और आनन्द से था। हमलोग निम्नतर प्रवृत्तियों में ही जाग्रत हैं और विज्ञान तथा आनन्द में सुप्त हैं। हमें अपने अन्दर चेतना के इन स्तरों को जाग्रत करना होगा और उसका जाग्रत हो जाना तथा उनकी विशुद्ध क्रिया का होने लगना ही योगसिद्धि है।

इस योग की तीसरी प्रक्रिया है सभी वस्तुओं को भगवान के रूप में देखना। इस अनुभूति में ऐसा प्रतीत हो सकता है कि सद्वस्तु तो बस "एक" ही है। और अन्य सब कुछ माया है, उद्देश्यहीन और अनिर्वचनीय भ्रम है। इसके बाद यदि हम यहीं रुक न जायँ तो हमें यह दिखाई देगा कि वही आत्मा सभी सृष्ट वस्तुओं को न केवल अपने अन्दर रखती है और धारण करती है बल्कि उनमें परिव्याप्त और ओतप्रोत भी हो रही है और अन्त में हम यह समझ सकेंगे कि यह सब नाम और रूप भी ब्रह्म ही हैं। तब हम अधिकाधिक उस ज्ञान में निवास करने लगेंगे जिसे गीता और उपनिषदों ने जीवन का सिद्धान्त माना है। उस समय हम आत्मा को सब भूतों में और सब भूतों को आत्मा में देखेंगे। इस योग की सर्वोच्च अनुभूति तो वह है जिससे हमें पता चलेगा कि यह सारा जगत् एक अनन्त दिव्य पुरुष की ही अभिव्यक्ति या लीला है।

किन्तु सभी वस्तुओं और प्राणियों में सर्वभूतेषु भगवान को देखना ही पर्याप्त नहीं है। हमें सभी घटनाओं, क्रियाओं, विचारों और अनुभवों में, अपने में और दूसरों में, जगत भर में भगवान को देखना होगा। इस अनुभूति के लिए दो बातें आवश्यक हैं—पहली तो यह कि हमें अपने सभी कर्मों का फल भगवान को सौंप देना होगा, और दूसरी यह कि कर्मों को भी उन्हें अर्पण कर देना होगा। कर्मफल को अर्पित करने का यह अर्थ नहीं है कि उससे वैराग्य हो जाय अथवा उससे हम मुँह मोड़ लें अथवा अपने सामने रखे हुए किसी उद्देश्य से कर्म कर देना अस्वीकार कर दें। उसका अर्थ यह है कि हमें कर्म तो अवश्य करना चाहिये पर इसलिए नहीं करना चाहिये कि हम चाहते हैं कि इससे अमुक बात हो जाय, अथवा यह समझते हों कि अमुक बात होनी आवश्यक है और उसके लिए हमारा कर्म करना जरूरी है। बल्कि इसलिए करना चाहिये कि वह हमारा कर्त्तव्य है, हमारी सत्ता के स्वामी की वह मांग है और उसे हमें करना ही है, चाहे उसका जो कुछ फल भगवान क्यों न दें। जो कुछ हम चाहते हैं उसे हमें किनारे रख देना उचित है और यह जानने की इच्छा करनी चाहिये कि भगवान क्या ।इस बात पर दृढ़ विश्वास रखना

उचित है कि जब हम अपने कर्त्तव्य कर्म का ठीक-ठीक पालन करेंगे तब उसके फलस्वरूप निश्चित रूप से वही होगा जो उचित और आवश्यक है। और अगर फल हमारी पसन्द या आशा के अनुरूप न भी हो तोभी उस विश्वास को ज्यों का त्यों बनाये रखना चाहिये। निःस्वार्थ जीव भगवान् के सान्निध्य का भी त्याग कर सकता है अगर भगवान् की वैसी इच्छा हो। हमें उच्चतम सात्विक अहंकार से भी मुमुक्षु के सूक्ष्म-अज्ञान से भी मुक्त होना होगा और समस्त सुख आनन्द को बिना आसक्ति के ग्रहण करना होगा।

सुतराम् इस योग की प्रक्रिया इस प्रकार है —

(१)—आत्मसमर्पण का संकल्प करना (२)—अपने आपको आधार से पृथक करना अर्थात् द्रष्टाभाव से अपने अन्दर की दिव्य शक्ति की प्रक्रिया को देखना। (३) सर्वत्र सभी वस्तुओं में और सभी घटनाओं में भगवान् के दर्शन प्राप्त करना, कर्मफल और स्वयं कर्मों को भगवदर्पण करना और इस तरह अज्ञान से, अहंकार से, द्वन्द्वों से और कामना-वासना से मुक्त हो जाना, जिससे कि हम अपनी सत्ता में शुद्ध, मुक्त, सिद्ध और आनन्दमय हो जायँ।

सिद्धि के लिए चार बातें आवश्यक हैं—(१ शास्त्र, (२) उत्साह (३) गुरु और (४) काल। किन्तु अरविन्द के पूर्णयोग में इन चारों के अर्थ भी साधारण अर्थों से भिन्न हैं। शास्त्र का अर्थ है भूतकाल से आई वे ज्ञान रश्मियां जिन्हें पाकर हमारे हृदय का ज्ञान-कमल विकसित हो; गुरु—वह पथ-प्रदर्शक जो हमारे हृदय में ही अवस्थित है; उत्साह—सिद्धि के लिए सतत प्रयत्न और काल—साधना की अनन्त अवधि। स्थानाभाव से हम इनकी व्याख्या यहां नहीं दे दे रहे हैं।

श्री दिलीप कुमार राय से बातचीत के सिलसिले में एक बार श्री अरविन्द ने कहा था—मैं किस बात की साधना कर रहा हूँ यह कहने पर भी अभी तुम नहीं समझ सकोगे अथवा गलत समझ लोगे। तब इतना-सा जान रखो कि मैं ऊर्ध्वतर लोक का ऐसा कोई प्रकाश इस जगत में ले आना चाहता हूँ जिसके फलस्वरूप मानव प्रकृति के अन्दर एक बहुत बड़ा हेरफेर, परिवर्त्तन होगा। ऐसी किसी शक्ति को सक्रिय बनाना चाहता हूँ, जो आज तक इस पृथ्वी पर प्रकट रूप में सक्रिय नहीं हुई है। पूर्णयोग यदि केवल मेरे जैसे दो-एक मनुष्यों के लिए होता तो फिर उसका मूल्य बहुत कम ही होता। क्योंकि मैं तो इस वास्तव जीवन को छोड़ना नहीं चाहता हूँ—मैं चाहता हूँ इसका एक आमूल गम्भीर रूपांतर। केवल स्वयं ही अमृत-लोक में पहुँचने से काम नहीं चलेगा—विश्वमानव को अमृततत्व प्राप्त करने का अधिकारी बनाना होगा। जो कुछ भी अशुभ है उसमें शुद्ध होकर, उनके दिव्य स्पर्श से अन्तरात्मा रूपान्तरित होकर हमें इस जगत

में उस दिव्य विद्युत शक्ति को थरथराहट और जगमगाहट के साथ सारी मनुष्य जाति के अन्दर संचारित करना होगा जिसमें जहां कहीं हममें से कोई भी एक आदमी खड़ा हो वहां उसके चारो ओर हजारों मनुष्य भगवान की ज्योति और शक्ति से भर जायँ भगवान्मय और आनन्दमय बन जयँ। धर्म-मन्दिर, धर्मसंघ, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र इत्यादि मनुष्यजाति को रक्षा करने में असमर्थ सिद्ध हुए हैं क्योंकि वे बौद्धिक मतवाद, सिद्धान्त, वाह्य क्रिया और अनुष्ठान में तथा दर्शन में ही इस तरह लगे रहे मानो वे ही नतुष्यजाति की रक्षा कर सकते हों और जो बात अत्यन्त आवश्यक है उसको अर्थात् आत्मा की शुद्धि और शक्ति की उन्होंने अवहेलना कर दी। हमें उसी एक आवश्यक बात की ओर लौटना चाहिए। पुनः हमें मनुष्य जाति की पवित्रता और पूर्णता सम्बन्धी ईसा की शिक्षा को, भगवान् की अधीनता, आत्म-समर्पण और सेवा-भाव स्वीकार करने के विषय में मुहम्मद की शिक्षा को, भगवान के प्रति प्रेम तथा मनुष्य के अन्दर भगवद्-आनन्द के विषय में चैतन्य की शिक्षा को तथा सर्व धर्मों की एकता और मनुष्य में अन्तर्निहित भगवान की दिव्यता के विषय में रामकृष्ण की शिक्षा को ग्रहण करना होगा और इन सब धाराओं को एकत्र कर एक विशाल नदी में, एक पावनी और मुक्ति-दायिनी गंगा में परिणत करना होगा और फिर उसे जड़वादी जीवनमृत मनुष्य समाज के ऊपर ढाल देना होगा—जैसे कि भगीरथ ने गंगा को उतार कर उससे अपने पूर्वजों की राख बहा दी थी—जिसमें मनुष्य जाति की आत्मा फिर से जी उठे और कुछ समय के लिए फिर से संसार में सत्ययुग की प्रतिष्ठा हो जाय। किन्तु केवल इतना ही योग का सम्पूर्ण उद्देश्य नहीं है। जिस उद्देश्य से अवतार पृथ्वी पर आते हैं वह है बार-बार मनुष्य को ऊपर उठाना। उसमें उत्तरोत्तर उच्च से उच्चतर मानवता को विकसित करना, एक महत्तर फिर उससे भी महत्तर भागवत सत्य का विकास करना। बार-बार पृथ्वी पर अधिकाधिक मात्रा में स्वर्ग को तबतक उतारते रहना, जबतक हमारा परिश्रम सफल न हो जाय, हमारा कार्य सिद्ध न हो जाय और इस स्थूल भौतिक जगत् में सब के अन्दर सच्चिदानन्द की पूर्ण अभिव्यक्ति न हो जाय। जो केवल अपनी मुक्ति या थोड़े से लोगों की मुक्ति के लिए प्रयास करता है उसका कार्य अगर सफल भी हो जाय तो भी अत्यन्त सामान्य है। किन्तु जो समस्त मनुष्य जाति में आत्मा की शान्ति, आनन्द, पवित्रता और पूर्णता स्थापित करने के लिए ही जीवण धारण करता है, उसका कार्य यदि असफल भी हो जाय अथवा केवल आंशिक रूप में कुछ काल के लिए भी सफल हो, तोभी अनन्त गुणा महान है।

कहानी

पागल

श्रीराधाकृष्ण

> यदि वह पागल नहीं होता तो अपने भोजन के लिए अवश्य ही जालसाजी करता, फरेब करता, चोरी-डकैती करता अथवा भीख ही माँगता...... उसके पास भीख माँगने की झोली तक नहीं और वह अलमस्त बना रहता है। जरूर वह पागल है।

यों ही वह बिना किसी कारण के मुसकिराता रहता था।

ऐसे जो आदमी होते हैं वे पागल होते हैं। अगर कोई आदमी अपने मतलब से, अपने स्वार्थ से मुसकिराता है, तो वह ठीक है। कम से कम वह पागल तो नहीं है। लेकिन अगर कोई बिना वजह के मुसकिराता है, तो वह मुस्कान का अपव्यय करता है। इस व्यापारिक युग में अपव्यय बड़ी खराब चीज है। इससे दीवाला निकल जाता है। सो मुस्कान का भी अपव्यय नहीं होना चाहिए। जो फिजूल, बिना कारण के मुसकिराता रहता है वह पागल नहीं तो और क्या है?

खाने-पीने का भी उसका ठीक नहीं। जो मिला सो खा लिया। नहीं मिला तो नहीं खाया। अपनी मौज में मुस्किराते रहे। जरूर ही वह पागल है। वर्ना खाना तो आदमी को दोनों जून मिलना ही चाहिए। इसी दोनों वक्त के भोजन के लिए आदमी चोरी, डकैती, घूसखोरी, जालसाजी और बेईमानी करता है। इसी भोजन के खातिर राज्य-क्रान्तियाँ होती हैं, षड्यंत्र होते हैं, हत्याएँ होती हैं, तख्त उलटते और पलटते हैं। भोजन ही तो सार वस्तु है। उस भोजन की ओर से लापरवाह? उस भोजन के बिना भी अलमस्त? वह जरूर पागल है। यदि वह पागल नहीं होता तो अपने भोजन के लिये अवश्य ही जालसाजी करता, फरेब करता, चोरी-डकैती करता अथवा भीख ही माँगता। मगर वह तो कुछ भी यह सब नहीं करता। जरूर वह पागल है।

रहने का भी ठौर-ठिकाना नहीं। जहाँ जमे वहीं अपना घर है। सड़क पर हैं तो वहीं आराम है। जरूर वह पागल है; अन्यथा उसका कोई अपना घर जरूर होता। अगर अपना घर नहीं होता, तो किराये का घर तो जरूर ही होता। अगर वह भी नहीं होता तब भी किसी मकान या जमीन के लिए किसी अदालत में उसका कोई दीवानी मुकदमा जरूर चलता होता। नहीं-नहीं, वह पागल है। उसे अपने कपड़े-लत्त का

ख्याल नहीं। वह अपने भोजन की भी परवाह नहीं रखता। उसके रहने का भी ठीक नहीं। ऊपर से वह बिना किसी कारण के मुसकिराता रहता है। उसके पास भीख माँगने की झोली तक नहीं और वह अलमस्त बना रहता है। जरूर वह पागल है।

ऐसे पागल से कौन बोले? मैं भी उससे नहीं बोलता। उसके पास तो अपनी कोई कामना ही नहीं। वह दूसरों की कामना से दिलचस्पी क्यों लेगा? उसके पास अपना कोई स्वार्थ ही नहीं, फिर उससे दूसरे किसी का स्वार्थ कुछ भी नहीं सधेगा। वह फिजूल है। समाज और सामाजिक चेतना के लिए फिजूल है। वह पागल है। पागल से नहीं बोलना चाहिए। मैं शाम-सवेरे, दिन-दोपहर, आते-जाते उसे बराबर देखता हूँ, बराबर वह मुसकिराता रहता है, बराबर वह हँसता है। मैं उससे बोलता ही नहीं।

वह पागल बराबर मेरे ही मुहल्ले में चक्कर काटता था, मेरे ही मुहल्ले में रहता था। घर तो उसका था ही नहीं। अपना पड़ोसी उसे कैसे कहूँ? मगर वह मेरे ही मुहल्ले में निवास करता था।

सन् १९४६ की बात है। सम्प्रदाय और मजहब आपस में टकराने लगे। मुझे मालूम नहीं कि भगवान और अल्लाहताला कभी लड़ते होंगे, खुदाबन्दा करीम और भगवान रामचन्द्र आपस में छूराबाजी करते होंगे, लेकिन हिन्दू और मुसलमान तो जरूर ही लड़ने लगे। सारा देश इसी वातावरण में लीन हो गया।

फिर हमारा ही नगर क्यों चुप रहे? क्या गया के हिन्दुओं ने माँ का दूध नहीं पीया? क्या मुसलमानों के पास इस्लाम की आन नहीं? "अल्लाहू अकबर! महावीर स्वामी की जय!!" लो दोनों ओर से ठन गई। खचाखच छूरियाँ चलने लगीं, बीच-बीच में बन्दूकों के फायर होने लगे। फटाफट तमाम घरों के सभी दरवाजे बन्द हो गये। सारे शहर में सन्नाटा हो गया। बस, कभी दूर से हरहर महादेव की आवाज आती, अल्लाहू अकबर की आवाज आती या फिर आर्तनाद का स्वर सुनाई देता। सड़कों पर खून के धब्बे थे और निरीह मानव को लोथ थी। ओह, कैसा बुरा वक्त था!

मगर वह पागल तब भी घूम रहा था, तब भी हँस रहा था। मैंने अपने मकान की खिड़की को खोलकर देखा। वह भागते हुए लोगों को देखकर हँस रहा था, मुर्दा पड़ी हुई लाशों को देखकर हँस रहा था।

आज पहली बार उस पागल पर ममता हो आई। डर लगा कि कहीं कोई उसे मार न डाले। मैंने खिड़की बन्द की। जल्दी-जल्दी नीचे उतरा। सड़क पर उसके पास जाकर बोला—तुम कहीं छिप क्यों नहीं जाते?

वह मुसकिराता रहा और मेरी ओर देखता रहा। मैंने कहा—देखते नहीं, चारों ओर मार-काट मची हुई है? उसने

मुसकिरा कर कहा—हाँ, मार-काट मची हुई है। सब पागल हो गये हैं।

वह तो ऐसा वक्त था कि आदमी या तो हिन्दू था या मुसलमान था। इसके सिवा वह कुछ हो ही नहीं सकता था। मेरे मन में एक सन्देह ने सिर उठाया। मैंने उससे पूछा तुम हिन्दुओं की तरफ हो या मुसलमानों की तरफ? उसने हँसते हुए कहा—क्या तुमने भी मुझे पागल समझ लिया है? मैं किसी की तरफ क्यों रहूँ? मैं पागल नहीं हूँ।

और वह मुझे लक्ष्य करके हँसा, फिर गली की ओर चल कर मुड़ गया। जाते-जाते वह बड़बड़ा रहा था कि लोग ऐसे पागल हो गये हैं कि मुझे भी पागल समझ रहे हैं। कम्बख्तो, मैं तुम लोगों की तरह पागल नहीं हूँ.........

आज बहुत दिनों के बाद वह पागल मुझे याद आ रहा है। मैं आज उसी को सोच रहा हूँ। सोच रहा हूँ कि क्या वह ठीक कहता था? क्या वह पागल नहीं था?

ज़िन्दगी

इस सुन्दर संसार में मैं मरना नहीं चाहता,
मैं मानवों के बीच ज़िन्दा रहना चाहता हूँ।
सूरज की इन किरणों में, फूल-भरे इन बगीचों में,
ज़िन्दादिलों में, मैं जगह पाना चाहता हूँ।
पृथ्वी पर प्राणों के खेल हमेशा तरंगें ले रहे हैं—
उनमें भरे हैं कितने मिलन-विरह, हँसी-आँसू—
मानवों के सुख-दुखों को गीत में गूँथ कर—
मैं निर्माण करना चाहता हूँ अमरता का आलय।
यदि यह नहीं कर सकूँ तो जब तक ज़िन्दा हूँ,
तुम्हारे ही बीच मुझे स्थान मिले,
तुम्हारे तोड़ने के लिए, शाम सुबह
नये-नये संगीतों के फूल खिलाऊँ!
मुस्कुरा कर उन फूलों को लेना,
और, जब वे सूख जाँय, आह, तब फेंक देना!

कवीन्द्र रवीन्द्र

आर्थर केस्लर

कलाकार या प्रचारक

प्रो० नलिन विलोचन शर्मा

दुनिया भौगोलिक दृष्टि से छोटी हो गई है : उसका ओर-छोर कुछ घंटों में आदमी नाप सकता है। नहीं चाहने पर भी उसके हिस्से प्राण-तंतुओं से अनुस्यूत हो गए हैं : लंदन और न्यूयार्क में राज-नीति करवट बदलती है तो दिल्ली में लोग आँखें मलने लगते हैं; वहां के गौरांग सेठ तार खींचना शुरू करते हैं तो कलकत्ता-बंबई के भूरे सेठ चहलकदमी करने लग जाते हैं। एक तीसरी तरह से भी संसार के दूरस्थ भाग एक दूसरे के समीपवर्ती बन गये हैं : हजारों मिल दूर पच्छिम में कोई ऐसी किताब छपती है, जिसकी ओर लोगों का ध्यान जाता है, तो मुझ जैसे हिंदी के साहित्यिक अपने शहरों की दूकानों के दरवाजे खटखटाने लगते हैं।

इस तीसरे क्षेत्र में आयात ही होता है, निर्यात नहीं। अभी हमारा सांस्कृतिक-साहित्यिक व्यापार-संतुलन प्रायः सर्वथा प्रति-कूल है। फिर भी इस क्षेत्र में स्वयं-पूर्णता का प्रश्न नहीं उठता, आत्म-विकास होने पर आयात बढ़ेगा ही, थोड़ा निर्यात भी होने लगे तो क्या कहने! कहने का मतलब, अगर लिखने के लिए पढ़ना जरूरी है तो, हिंदी के लेखकों को, अपने पुराने साहित्य के अतिरिक्त, पाश्चात्य साहित्य से खूब परिचय बढ़ाना ही पड़ेगा।

सौभाग्य से हिंदी भाषियों में इसके लिए पर्याप्त उत्सुकता है। लेकिन हमारे यहां अक्सर गलत किताबों के ही अनुवाद प्रस्तुत होते हैं और हम पढ़ते भी हैं ज्यादातर ऐसी ही किताबों को, लेखकों को। दोनों के उदाहरण देता हूँ। जहां सैकड़ों उत्कृष्ट पुस्तकें पड़ी हैं जिनका अनु-वाद हो जाना चाहिए वहां 'रेनबो' का हिंदी संस्करण तैयार करना क्यों आवश्यक समझा गया? इसी प्रकार, जहां मुझे इतनी सारी अच्छी किताबें पढ़नी थीं, वहां मैंने केस्लर की पुस्तकों पर जो वक्त बर्बाद किया, वह क्या सिर्फ इसीलिए नहीं कि इन महाशय की चर्चा चल पड़ी थी?

लेकिन जरा ठहर कर, सोच कर कहें तो इन दोनों घटनाओं में कोई ऐसी खास बुराई नहीं दीख पड़ती। 'रेनबो' स्तालिन-

पुरस्कार प्राप्त उपन्यास है; केस्लर ने अंग्रेजी के आलोचकों-पाठकों से प्रशंसा प्राप्त की थी। मैं दोनों के बारे में मन में खीझ रख सकता हूँ, किंतु इनमें कहीं थोड़ा तो ऐसा कुछ होगा ही जो अच्छा हो। जो थोड़ा अच्छा है, उससे परिचित होना भी बुरा तो नहीं।

केस्लर को आपने जरूर पढ़ा होगा। खतरा यह है कि आपने उसे पसंद किया होगा। एक तो उसकी काफी तारीफें हुई हैं, और, दूसरे, वह झोंके के साथ पाठक पर हावी हो जाने का गुण जानता है। दूसरा गुण, जो कि असल में गुण ही है, हिंदी में खास तौर पर कारगर होता है। केस्लर ही नहीं, उनके जैसे दूसरे लेखकों के रोब में भी पाठक को क्यों नहीं आना चाहिए, वस्तुतः यही दिखाने के उद्देश्य से यह निबंध लिख रहा हूँ। जिन्होंने केस्लर को नहीं पढ़ा हो उन्हें भी, इस निबंध के बावजूद, उसे पढ़ना चाहिए और तभी उन्हें मेरी तरह, खीझ अनुभव करने का अधिकार होगा।

केस्लर ने पिछले विश्व-युद्ध के समय काफी लोकप्रियता प्राप्त की थी, विशेष रूप से अपने उपन्यास "डार्कनेस ऐट नून" के कारण। चूँकि उन्होंने तात्कालिक महत्व के विषयों पर ही सामान्यतः लिखा है, इसलिए उनकी लोकप्रियता स्वाभाविक भी थी। उनकी तीक्ष्णता और साहित्यिक प्रतिभा भी निर्विवाद है। इनके अतिरिक्त केस्लर के अनुभव की विविधता भी उन्हें सहायता पहुँचाती है। केस्लर का जन्म हंगरी में हुआ था यद्दि वह वे आज इंगलैंड में रह कर अंग्रेजी में लिखते हैं। उन्होंने इंजिनियरिंग के साथ-साथ मनोविज्ञान का अध्ययन किया था और इक्कीस साल के होने के पहले पैलेस्टाइन में खेती, मिस्र में पत्र-संपादन और अरब में भवन-निर्माण का काम किया था। इसके बाद भी उनके जीवन की विविधता समाप्त नहीं होती—वे कभी मध्य-पूर्व में अखबार-नवीसी करते थे तो कभी ध्रुव-यात्रा करने वाले संगठन के सदस्य बन बैठे और फिर १९३१ में साम्यवादी दल में सम्मिलित हो गये, एक वर्ष रूस में रहे और १९३६ में स्पेन के गृह-युद्ध में संवाददाता के रूप में गिरफ्तार होकर तीन महीने तक जेल में मृत्यु दंड की प्रतीक्षा करते रहे। कुछ दिनों के बाद उन्होंने साम्यवादी दल से त्याग-पत्र ही नहीं दिया बल्कि पेरिस के साम्यवाद-विरोधी पत्र का संपादन भी किया। वहीं जर्मनों ने उन्हें बंदी बनाया पर वे इंग्लैंड भाग गये और वहीं सेना में भर्ती हो गये। आज वे चालीस से कुछ ही ऊपर हैं किंतु उनके अनुभवों की अनेकरूपता असाधारण है।

इसी के फल स्वरूप, उनके बारे में दावा किया जाता है; उनके शब्दों के पीछे एक दबाव रहता है, एक ऐसा दबाव जो अनुभव से ही प्रसूत हो सकता है। केस्लर की एक

दूसरी विशेषता की भी अक्सर चर्चा की जाती है और वह है उनकी तीव्रता जिसके पीछे भी उनके अनुभव का ही दर्शन आलोचक करते हैं। "डार्कनेस ऐट नून" की प्रारंभिक पंक्तियाँ हैं — 'रूबोशोव के पीछे कालकोठरी का दरवाजा धमाके के साथ बंद हो गया'; "थीव्स ऐट नाइट" का आरंभ होता है — 'अगर आज मैं मर भी गया तो एक ट्रक पर से गिर कर तो जरूर नहीं।' इन पंक्तियों की तीव्रता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता किंतु इन वर्णनों में जो धक्का और आनंदोपलब्धि है उससे साफ जाहिर है कि जो तीव्रता उत्पन्न होती है वह जान-बूझ कर, कोशिश से पैदा की गई है। केस्लर जिन घटनाओं का वर्णन करते हैं उनमें तात्कालिकता और असाधारणता रहती है और स्पष्टता, आवृत्ति और संशय के कारण उनमें तीव्रता का भी विकास होता है। किंतु यह तीव्रता कुछ ऐसी निरवच्छिन्न होती है कि वह उपन्यास की घटना से प्रोद्भूत होती न मालूम देकर लेखक के किसी अभाव की पूर्त्ति करती-सी लगती है। लेखक जैसे हमें अपनी सफाई दे रहा हो, अपने भीतर की तीव्र भावनाओं का समाधान कर रहा हो। लेखक को इस बात का आवश्यकता से ज्यादा ख्याल बना रहता है कि वह पाठक पर क्या प्रभाव डाल रहा है। यह पाठक की भावनाओं के साथ जबर्दस्ती करना है और इस बात का द्योतक है कि लेखक अपने अनुभव के बल पर अपना अधिकार समझता है कि वह दूसरों की यंत्रणाओं का वर्णन करे। इसका परिणाम होता है कि केस्लर 'डार्कनेस ऐट नून' के प्रधान पात्र रूबोशोव में अपने को आरोपित कर देता है और इस औपन्यासिक पात्र में लेखक की तीव्रता आ जाती है। रूबोशोव अपने जीवन के अंतिम क्षणों में इस प्रकार विचार करते हुए चित्रित किया गया है — 'लेकिन वह प्रतिश्रुत देश कहां है? क्या मारी फिरने वाली इस मनुष्य-जाति के लिए सच-मुच कहीं था भी ऐसा लक्ष्य? वह चाहता था कि वह बहुत देर हो जाने के पूर्व इस प्रश्न का उत्तर पा लेता।' यह रूबोशोव नहीं बोल सकता, उसके बदले बोल रहा है लेखक का वह विश्वास जो रूबोशोव की मृत्यु में व्यापक सत्य पाना चाहता है।

"डार्कनेस ऐट नून" प्रधानतः उन अभि-योगों की व्याख्या है जो स्तालिन के अनु-यायियों द्वारा अपने ही साथियों पर लगाये गये थे और जिन्हें, किसी न किसी तरह प्रमाणित कर, अभी तक क्रांतिकारी कहे जाने वालों को मृत्यु-दंड दिया गया था। यह एक ऐसी घटना है जिसपर लिखते समय तटस्थता का निर्वाह बहुत ही कठिन है। इसलिए बहुत महत्वपूर्ण होने पर भी इस पर गल्प-लेखकों ने कलम नहीं चलाई थी। ऐसे विषय के साथ खतरा यह होता कि हम संघर्ष को अन्यायी और उसके शिकार, इन दो पक्षों में बांट देते हैं। तब स्वभावतः

हमारी सहानुभूति दूसरे पक्ष की ओर ढल जाती है और वैसी हालत में हम न्याय करने के अधिकारी नहीं रह जाते। जिस तरह 'रेनबो' साम्यवादी रूस की गुण-गाथा होने के कारण ही उच्च कला-कृति नहीं मान ली जा सकती इसी तरह "डार्कनेस ऐट नून" साम्यवादियों के विरुद्ध होने के कारण ही श्रेष्ठ उपन्यास नहीं माना जा सकता। इन दोनों उपन्यासों में हम पाते हैं कि जो शत्रु मान लिया गया है उसमें मनुष्यत्व की कल्पना तक नहीं की जा सकती। फिर भी केस्लर के बारे में इतना स्वीकार किया जा सकता है कि उन्होंने निर्वैयक्तिकता के साथ लिखना शुरू तो किया होगा पर शीघ्र ही वे पक्ष ग्रहण कर लेते हैं।

जिस निर्वैक्तिकता का अभाव 'डार्कनेस ऐट नून' में इतना खटकता है उसका निर्वाह कोनराड के 'अन्डर वेस्टर्न आइज़' नामक उपन्यास में पूर्ण मात्रा में हुआ है, जिसका विषय भी बहुत कुछ पहले उपन्यास के समान ही है। कोनराड में निर्वैयक्तिकता ही नहीं है; दया भी है। वे अपने ऊपर नियंत्रण रखते हैं, अपने को अपने पात्रों में आरोपित नहीं करते। 'अन्डर वेस्टर्न आइज़' का प्रधान पात्र, भाषाओं का अध्यापक, किसी दृष्टि से कोनराड नहीं कहा जा सकता। स्वयं कोनराड ने कहा है — 'इसके पूर्व मुझे कभी ऐसी तटस्थता के लिए प्रयास नहीं करना पड़ा था' — सभी प्रकार की रुचि, इच्छा, विश्वास से तटस्थ रहने का प्रयास। 'अन्डर वेस्टर्न आइज़' प्रकाशित होने पर अंग्रेजी भाषी जनता में विफल हो गया था और उसकी विफलता का कारण था यही निर्वैक्तिकता, यही तटस्थता। इसके विपरीत केस्लर को जो लोकप्रियता प्राप्त हुई वह तात्कालिक महत्व को ध्यान में रखने के पत्रकारोचित गुण के फलस्वरूप।

केस्लर 'डार्कनेस ऐट नून' के प्रतिनायक, ग्लेटकिन, को एक दानव के रूप में चित्रित करते हैं। वह आधुनिक रूस का प्रतिनिधि और प्रतीक बन जाता है। इसके प्रतिकूल कोनराड स्वयं ही कहते हैं — 'मेरे उपन्यास में किसी का दानव के रूप में प्रदर्शन नहीं किया गया है।' केस्लर ने ग्लेटकिन या जेल के डाक्टर का जिस काले रंग में वर्णन किया है, और बार-बार किया है, वह तीव्र होने पर भी राजनीति से ही अनुप्राणित है और लगता है जैसे लेखक चाहता है कि रूबेशोव कारागार का अध्यक्ष होता और ग्लेटकिन उसका बंदी। कोनराड के उपन्यास में जो जीवन-दर्शन, अनुभव की व्यापकता, भावना की लय प्राप्त होती है उसका केस्लर की पुस्तक में सर्वथा अभाव ही है। ये कुल मिल कर हमारे मन में कोनराड की साधना, उद्देश्य, योग्यता एवं विवेक के प्रति आस्था उत्पन्न कर देते हैं जब कि "डार्कनेस ऐट नून" में हमें ऐसे आधार नहीं मिलते! इसके

अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि रूबोशोव और ग्लेटकिन के रूप में जो दो विकल्प हमारे सामने रखे जाते हैं उनमें कोई भी तो वांछनीय नहीं है। हालांकि पहले के संबंध में केस्लर ने स्पष्ट ही अपना पक्षपात दिखाया है। केस्लर में जेल के वातावरण के वर्णन के लिए जो कमजोरी है वह भी स्वस्थ रुचि का द्योतक नहीं कही जा सकती—वे उसमें ऐसा रस लेते हैं जो कुरुचिपूर्ण तक कहा जा सकता है।

रूबोशोब के लिए केस्लर की जो सहानुभूति है वह स्पष्ट है किंतु उसके स्वभाव-चित्रण को लेखक विश्वासोत्पादक नहीं बना सकता है। उसके पूर्वग्रहों को हम ठीक-ठीक समझ नहीं पाते। वह अन्तर्राष्ट्रीय क्रांति का हामी है और उस वर्धमान रूसी राष्ट्रीयता का विरोधी जिसके समर्थक हैं ग्लेटकिन जैसे लोग। यह दो मान्यताओं का संघर्ष है जिनके प्रतीक, जान बूझ कर, विभिन्न पात्रों के रूप में, प्रस्तुत कर दिए गए हैं। पात्र केवल प्रतीक हैं अतः समूची पुस्तक में प्रयास और अवास्तविकता की छाया उपस्थित रहती है, जैसे जो कुछ महत्वपूर्ण है उसकी तो उपेक्षा की जा रही है और गौण बातों को प्रधानता दी जा रही है।

उदाहरण के लिए समष्टि के संबंध में रूबोशोव से जो कुछ कहलाया गया है उसीको ले लिया जाय। रूबोशोव समष्टि 'हम', के बारे में ग्लेटकिन के सामने एक लंबा-चौड़ा वक्तव्य दे डालता है जिसके अंत में वह कहता है "तुमने उस समष्टि को, 'हम' को, मार डाला, नष्ट कर दिया।" अपने वक्तव्य के अंत में रूबोशोव उस कठपुतली के समान हो जाता है जिसे पर्दे में छिप कर उपन्यासकार नचा रहा है। केस्लर रूबोशोव के इस सीमा तक पक्षपाती है कि वे उसके साथ ईसामसीह का वातावरण संयुक्त कर देते हैं। पर वे यह भूल ही जाते हैं कि जहां तक राजनीतिक आन्वीक्षिकी का प्रश्न है ग्लेटकिन बहुधा उपेक्षाकृत अधिक विश्वास्य मालूम देने लगता है और वह भी लेखक के सभी प्रयास पक्षपात के बावजूद। केस्लर ने घटनाओं को जितना सरल बना दिया है उतनी वे हैं नहीं, और उनसे जो भावुकता उन्होंने निचोड़ी है वह तो बिल्कुल सस्ती और पूर्वापेक्षित है।

"डार्कनेस ऐट नून" की दुर्बलता केस्लर के निबन्ध-संग्रह "दि योगी ऐंड दि कमिसार" में एकदम स्पष्ट हो जाती है। जिस रागात्मक प्रांजलता का अभाव, उपन्यास में, एक बहुत विवेकशील पाठक को ही खटकता है वह लेखक के निबंधों में प्रत्यक्ष हो जाता है। केस्लर का सारा तीव्र अंतःदर्शन सतह पर ही रह जाने वाले ऐसे भावों में सिमट जाता है – (क्रांति के) पहले कुछ वर्षों में सोवियत कल्पना और रूसी वास्तविकता बहुत दूर तक घुली-मिली हुई थी। यह रूस का वीर-काल था जिसमें

वीरता की कहानियों का जन्म होता है। तब धुआँ के पीछे सच्ची आग भी थी। रूवोशोव इसी आदर्शका प्रतीक है, जिसे लेखक मानता है, और चाहता है कि दूसरे मानें।

१९४४ में केस्लर ने अपने एक पुराने और अप्रकाशित नाटक 'ट्विलाइट बार' को प्रकाशित किया। इसमें उन्होंने एक ऐसे कल्पित द्वीप का वर्णन किया है जिसके निवासियों के बीच एक ग्रह के यात्री आते हैं और उन्हें धमकी दे कर खुशियां मनाने के लिए बाध्य करते हैं। किंतु इनके लौटते ही द्वीप के निवासी फिर से अपने दुःख में निमग्न हो जाते हैं -- "जब उन्हें धमका कर प्रसन्न रखने वाले आगंतुक नहीं रह गए तो उन्होंने सोचा, चलो अब तो खतरा टल गया है, हम पुनः दुखी बन जायँ : और एक आराम की सांस लेकर वे अपनी तकलीफों में फिर रम गए।...इसी तरह के तो हम इन्सान हैं—हर अभागा अपनी बदकिस्मती में आनन्द उठाता है!' 'प्रतीक' में प्रकाशित केस्लर (केस्टलर) पर अपने एक लेख में श्रीमती मुरियल बसी ने आलोच्य लेखक के दुख-सुख संबंधी दृष्टिकोण की जो चर्चा की है उसका आधार मुख्यतः यह नाटक ही है, यद्यपि विदुषी लेखिका ने इसका उल्लेख नहीं किया है। मनुष्य के संबंध में ऐसी धारणा व्यक्त कर लेखक ने स्वयं अपनी ही अस्वस्थ मनोवृत्ति का परिचय दिया है, जिसकी प्रसंगवश ऊपर भी थोड़ी चर्चा की जा चुकी है।

केस्लर ने अपनी आधुनिकतम पुस्तक "थीव्स इन दि नाइट" में अपनी तीव्रताओं का विश्लेषण करने का प्रयत्न किया है। इस इतिवृत्ति में -"थीवस इन दि नाइट" उपन्यास नहीं है—एक ऐसी आत्मीयता और मानवीय अनुभव की छाप है कि वह सजीव तो बन गई है किन्तु जिसके प्रचारात्मक उद्देश्य को भी भुलाया नहीं जा सकता। इस बार विषय है पैलेस्टाइन संबंधी अरब—यहूदी संघर्ष। इस पुस्तक में भी अरब जाति को दानव-रूप में चित्रित करने के लिए लेखक मुख्तार नामक पात्र का निर्माण करता है। मुख्तार का कुछ उसी प्रकार चित्रण किया गया है जिस प्रकार 'डार्कनेस ऐट नून' में जेल के डाक्टर का—कुरूप, भोंडा, घृणोत्पादक, दानव का प्रतीक! इस पुस्तक में केस्लर अपनी अंतर्राष्ट्रीयता ताक पर रख देते हैं और यहूदियों का पक्ष लेकर अरबों के विरुद्ध विष-वमन करते हैं और इस तरह उनकी वास्तविक संकीर्णता उद्घाटित हो जाती है। दानवीय चरित्रों का सृजन कर तो लेखक-जैसे स्वीकार कर लेता है कि वह मानवीय परिस्थितियां प्रस्तुत नहीं कर सकता।

केस्लर प्रतिभा संपन्न सफल प्रचारक हैं और उनके कुछ अनुभवों में तीव्रता भी है किन्तु उनमें उस निर्लिप्तता और निर्वैय-क्तिकता का अभाव है जिसके बिना कला-कृति में उत्कर्ष असंभव है। वे यंत्रणा भोग चुकने वाले मनुष्य के स्वर में बोलकर

(शेष पृष्ठ ९६ पर)

श्री राहुल सांकृत्यायन

आदि-हिन्दी के चार लोक गीत

हमारी राष्ट्र भाषा का मूल-स्थान है प्राचीन कुरु देश अर्थात् मेरठ कमिश्नरी के मेरठ, मुजफ्फर नगर और सहारनपुर के संपूर्ण जिले तथा बुलन्दशहर की गुलावठी तहसील एवं देहरादून का पहाड़ से नीचे का भाग। हिंदीं वेदों और उपनिषदों के स्रष्टा ऋषियों का इसी भूमि की भाषा है। आज हिंदी को भाषा, मुहावरे, लोकोक्तियों आदि से समृद्ध करने के लिए आदि-हिंदी के अलिखित जनसाहित्य का संग्रह करना अत्यावश्यक है। हमारे इन गीतों की गायिका हैं—

नाम — रमन माई, आयु ८० वर्ष, जाति — राजवंशी, गांव—वली (हस्तिनापुर से १५ मील), पर्गना—किठौड़, जिला — मेरठ।

लिपिक—राहुल सांकृत्यायन, स्थान — नैनीताल, मास — अप्रेल, १९५०।

तिज्जो के गीत सावन में कजली के तौर पर गाये जाते हैं। "जाहर" के गीत में मां द्वारा अपनी प्रिय पत्नी पर हुए अत्याचार के कारण जाहर का सदा के लिए लुप्त हो जाने की करुण कथा है—

१. जाहर (तिज्जो)

"सूरज बढ़ीके[1] कू हाल बुलाओ (जल्दी बुलाओ), आले-गीले चंदण कटाओ (मियाँ)।
चंपा बाग में मेरी गड़े हैं हिंडोले, रेसम बेड़[2] बँटाओ (मियाँ)।"
"देवरे-जेठाणी में चरचा हुई ती, बउवड़[3] क्यों ना बुलाई।"
"उठ-उठ री मेरी मूंगादे बाँदी, बाछल[4] को लाओ बुलाय।"
"उठ-उठ रे मेरी सिरियल राणी (बाछल राणी), सासुने जलद बुलाया।"

---

१. बढई पुत्र २. रस्सा ३. बउवड = बहुकुड, बहुरिया ४. वत्सला

"कश्रो[5] तो दूँ बाँदी मेरी सबरंग सारू, कश्रो तो चलूँ मैले भेस।"
"न जाणू बउवड मेरी सबरंग सारो, ना जाणू मैले भेस।"
"कश्रो तो बाँदी मेरी डुलिया कसाऊ, कश्रो तो चलूँ नंगे पैर।"
"न जाणू बऊ मेरी डुलिया कसाश्रो, ना जाणू चलो नंगे पैर।"
चंपे के बाग में गड़े हैं हिंडोले, रेसम वेड बँटाश्रो।"
पैला तो झौंटा[6] राणी सिरियल कू दीजो (बाछलकू दीजो) पीछे से सारा रणवास।

देवरे-जेठाणी में चरचा हुई ती।"
"तू तो कहे ती मेरी राँड़[7] बउड़िया अभरण किसपे सिंगार।"
इतनी तो कैके सासू सड़-सड़ मारे, कोड़ों उधेड़ी है खाल।
"आतेकू सासू मेरे हर[8] ना बताऊँगी (कदीना बताऊँगी), जातेकू दूँगी बताय।
उठ उठ री बैरन सासुरी (दुसमन सासुरी), भेजा है बेटा तुम्हारा।"
"सुण सुण रे बेटा पीछे फिरके देखो रे, महलों में लग गई आग।"
"महलों की लागी री अम्मा जल से बुझैगी, करमों की लागी हर ना बुझाय।"
"श्रोर दिना तो गोरी दिउला[9] बलै ता, आज क्यू घोर अंधेरा
श्रोर दिना तो गोरी हँसती बोले ती (खिलती बोलेती), आज क्यूँ उदासी छाई।
श्रोर दिना तो गोरी सेज बिछैती, आज क्यूँ खोड़ोसी खाट।"
"थारी तो अम्मा राजा सासु हमारी, मारि उधेड़ी है खाल।
इतनी तो सुणके जाहर चल पड़े रे, लीला ई घोड़ा लीला इ जोड़ा। जाहर गये हैं समाय।

२. गूजरियों का गीत

गूजर जाति की स्त्रियों का एक गीत सुनिये —

"मेरे संगकी सहेली मेरी बहण बणेली, तेरा राजा आया बाग में।"
"झूटी[1] झूँट न बोल घरगई[2] झूँटे न बोल।

---

५. कहो ६. पेंग ७. गाली ८. हरगिज ९. दीपक। १. झूठ बोलने वाली २. घरजली की भाँति गाली

जा दिन राजा री आवेंगे, म्हारू[3]री आवेंगे ।
घोड़ा पौड़ मचैगी, चंदा सूरज अटैंगे[4] ।
कूवों कीच मचैंगे, तारे दिन में दिखाई देवेंगे ।"
"मेरे संग की सहेली मेरी बहण-बणोली, तेरा राजा री आया तालों पै ।"
झूटी झूँट न बोल, घर गई झूँटे न बोल ।०।"
"मेरे संगकी सहेली०, तेरा राजा री आया कूवों पै ।०।"
"तेरा राजा री आया रसोइये में ।०।"
"तेरा राजा री आ या मैलों में ।०।"
"तेरा राजा री आया सेज पै ।०।"

३. ब्याई (सोहर)

अब एक आदि हिन्दी का सोहर सुनिये—

"सुण सुण रे मेरे राजा, अम्मा तुम्हारी आवैं चरखा धराई माँगै ।
अम्मा तुम्हारी आवै, मेरे गलेकी हँसली माँगे, इतना कआँ से लाऊँ ।
लाला तो रोज होवें, होलर[5]तो रोज होवें, इतना कआँ से लाऊँ ।"
"सुण सुण री गरीब घरों की (कंगाल घरों की) हम बी तो नोकरी कू जावें ।
हम बी तो चाकरीकू जावें, थेल्ली[6]पै थेल्ली लावैं, बोरी पै बोरी लावें ।
अम्मा कू नेग दीजो, अम्मा कू हँसली दीजो, जो माँगे सो दीजियो ।"
"सुण सुण रे मेरे राजा, भाबी तुमारी आवै, छुट्टी-पुजाई माँगै ।
लाला तो रोज होवें०, इतना कआँ से लाऊँ ।"
"सुण सुण धन ओछे घरों की, हम बी तो ।०।"
"सुण सुण मेरे सूदेसे[7]राजा, भेना[8]तुम्हारी आवै, सतिये-चिताई माँगै ।
बोगचे के तीयल[9]माँगे, हातों के कंगण माँगे, इतना ।०।"
"सुण सुण रे गरीब घरों की, कंगाल घरों की ।०।
"सुण सुण रे मेरे राजा, दवराणी[10]हमारे आवें, पलँगा बिछाई माँगे ।
दिउला[11]बलाई माँगे, गले के तिलड़ी माँगे चम्पा कली बी[12]माँगे । इतना ।०।

३. महारू = मारू = प्रियतम ४ टँक जावेंगे ५. होरिल, बच्चा ६. थैली ७. भोलेभाले
८. बहिन ९. एक आभूषण १०. देवरानी ११. दीपक १२. भी

"सुण सुण रे मेरे राजा नणद हमारी आवे, नगर बुलाई माँगे, बटवे के पैसे माँगे।"

"सुण सुण धन[13]गरीब।०।"

"सुण सुण रे राजा मेरे दाई तुमारी आवे, होलरजणाई[14]माँगे, इतना।०।"

"सुण सुण रे गरीब घरों की (फकीर घरों की), हम बी तो।०।

दाई कू नेग दीजो, गुंटी[15]अर छल्ले दीजो।"

पैसे असरपी दीजो, हातों के छल्ले दीजो, उँगली की गुंठी दीजो।"

४. *मनरा (झूलणा)

मनरा भी सावन के झूलने के समय का गीत है—

चूड़ा तो हाथी दाँत का, चूड़ा तो मेरे मन बसा।

गलिये गली मनरा फिरे, बीबी मनराकू लाओ बुलाय।

पल्ला पसार मनरा बैठ गया, "मनरा, कओ इस चुड़लेका मोल।" चूड़ा तो।०।

"औरों कू बीबी लाख टकेका, तुमकू पराऊँ बिना मोल।

"हरी, जँगीरी मैं ना पैरूं, हरे मोरे राजाजी के बाग।

काली जंगीरी मैं ना पैरूं, काले मोरे राजा जी के पंठे[1]।

लाल जंगीरी मनरा मैं ना पैरूं, लाल मोरे राजा जीका बिडला[2]।

चीटी जंगीरी[3]मैं ना पैरूं, चीटे मोरे राजजी के बस्तर।"

ह्वाँ से तो नणदल चल पड़ी, गई अम्मा जी के पास।

"अरी अम्मा मेरी, थारी बऊ तो बड़ी चकचाल[4]।

मनरा से जोड़ी दोसती।" सासूने सुसरा सिका दिया।

"राजा थारी बऊ मनराके जाये, मनरासे जोड़ दोसती।"

सुसरेने बेटेकू सिकाय दिया, "अरे बेटा थारी बऊ बड़ी चकचाल।"

ह्वाँ से बेटा उठके चल पड़ा, "अरी गोरी तुमकू बुलाया थारी बापकै।"

"अरे राजा कौण सा आया लेणेहार, तो कौण वादा धर गया?"

"अरी गोरी बीरन थारा आया लेणेहार, अर नाई वादा धर गया।"

---

१३. धनिया, धन्या, प्रिया १४. जन्माई १५. अंगूठी। *चूड़ीहार, मनिहार

१. बाल, पटे २. पान ३. गले की सोने की जंजीर ४. चकड़ चीली (भोजपुरी)

आप हुये राजा घोड़े असवार, धन नो बठाई पालकी।
जाय उतारी बालू-रेत में
पैली कटारी जब साँधिये, "राजा काहेकू मारी तलवार। चूड़ा तो हाथी दाँत का।"
दूजी कटारी जब साँधिये, लई उनने घुँघटे का ओट।
तीजी कटारी जब साँधिये, लई उनने हतड़ों पै ओट।
चौथी कटारी फेर साँधिये; पँचवीमें तजे हैं परान।
मार मूरि राजा चल पड़े, सीस तो डाला जुड़ों बीच।
ताण दुपट्टे राजा सो गये, सुपणेमें आई कमल नार।
"राजा हम ने करी थी बड़ाई थारे रूपकी।
घर-घर दिवले राजा बल गये रंडवेके घरमें अँधेरा।
घर-घर रोटी पाणी हो गई, रंडवाका चपनी में चून।
घर-घर सेज राजा बिछ गई, रंडवेकी सड़कों पै खाट।
हमसे तो छोटी म्हारी भैणिया, उसका तुम कर लीजो ब्याय।"
कोठे पै चड़के दी है दुआई, "भैया कोई मत मानियो माकी सीख।
अम्मा ने घर खोय दिया।"

वेदवाणी

अग्नि सूक्त

मैं अग्निदेव की स्तुति करता हूँ, जो हमें आगे बढ़ाने वाले, यज्ञों के देवता, सब ऋतु में पूजनीय, आह्वान करने वाले और रत्नों के देने वाले हैं।

अग्निदेव के साथ हम धन भोगें, पुष्टि पावें, दिन-दिन यश-युक्त हों और वीर-पुत्रों से घिरे रहें।

हे अग्निदेव, आप होता हैं, आप कवि-ज्ञानी हैं, आप सत्य रूप हैं, आप विचित्र कीर्तिवाले हैं; आप देवों में देव हैं, आप पधारिये! (ऋग्वेद १।१)

देव दूत आह्वानकारी, संसार, धन और इस यज्ञ को सुन्दर बनाने वाले अग्निदेव का हम वरण करते हैं।

हे घृत का होम पाने वाले दीप्यमान अग्नि, आप राक्षसों-सहित हमारे शत्रुओं को जला कर दूर करो। (ऋग्वेद १।१२)

गया से पटना

श्री 'वियोगी'
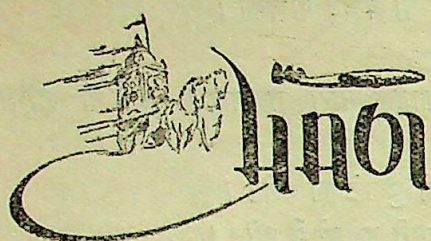
धूलभरी दोपहरी और गया से पटना की यात्रा—एक ओर भगवान् बुद्ध की तपोभूमि और दूसरी ओर महान् अशोक की राजधानी; बीच में फैले हुए पर्वत, नदी, गाँव, खेत, मैदान! प्रत्येक व्यक्ति की अपनी-अपनी दुनिया होती है - किसीकी दुनिया आहों की होती है और किसीकी हँसी खुशी की। जिस गाड़ी से मैं पटना जा रहा हूँ उस गाड़ी पर सैकड़ों व्यक्ति सवार हैं, अपनी-अपनी दुनिया लिये हुए सैकड़ों रंगबिरंगी दुनिया इस गाड़ी से जा रही है, एक, दो, चार स्टेशन या पटना तक! भीड़? बुरी नहीं होती यदि वह शान्त हो, संयत हो, व्यवस्थित हो। किन्तु गाड़ी पर चढ़ने और उतरने के समय व्यग्रता खुलकर खेलती है, संयम दूर से खड़ा-खड़ा देखता है—हाय, मानव में अभी आदि युग के जंगली संस्कारों की बहुलता है, प्रबलता है।

मैं गया से पटना कितनी बार गया, याद नहीं है; किन्तु प्रत्येक बार मैंने अपनी यात्रा में नयापन का ही अनुभव किया। एक बार जिन अच्छी या बुरी सूरतों को अपनी यात्रा में गाड़ी पर बैठे, सवार होते या उतरते देखा, उन्हें फिर कभी नहीं देख सका। मानव के चेहरे की कितनी किस्में हैं, बतलाना कठिन है। एक रूप दूसरे से भिन्न है। यदि हम आदिकाल से सोचना आरम्भ करें, अनुमान करना आरंभ करें, तो यही कहना पड़ेगा कि विभिन्नता का अन्त नहीं है, किस्मों की सीमा नहीं है। इसका प्रमाण है स्वयम् "मानव"। भारत के तीस-बतीस करोड़ मानव के आकार-प्रकार, गति-स्वभाव, स्वर, संस्कार सभी एक-दूसरे से भिन्न प्रकार के हैं। हाँ, पटना यात्रा में एक शकल मैं बहुत दिनों तक देखता रहा—टी० टी० आई० महाशय। मैं ऊबकर उन्हें देखना नहीं चाहता था; किन्तु पसीने की बदबू लिये वे गाड़ी में आते और टिकट चेक करके चले जाते। अब वे भी नजर नहीं आते; किन्तु उनके फूले हुए गालों पर अधपकी दाढ़ी और झुँझलाया हुआ स्वर—कैसे भूलूँ! गर्मी की दोपहरी—प्रत्येक स्टेशन पर गाड़ी रुकती है और प्लेटफार्म पर दौड़ती हुई भीड़ दिखलाई पड़ती है। मैं गाड़ी में लिखता या पढ़ता नहीं—बाहर देखा करता हूँ। शहर के रहनेवाले ईंट-पत्थरों के अस्थि पंजरों में फँसे रहते हैं—मैं तो ऊब गया हूँ। खुले मैदान में चमकने-

वाली धूप कभी-कभी नजर आती है, जब यात्रा-पथ पर होता हूँ। हमारे घर की खिड़कियों से हवा, प्रकाश, चाँदन—ये सारी चीजें कट-छँट कर आती हैं। इनकी पूर्ण महिमा का प्रदर्शन तो खुले खेतों में ही होता है, मैदानों में होता है। यात्रा में मैं गाड़ी की खिड़कियों से बाहर की ओर देखता हूँ और तृप्त होता हूँ—मैं प्रकृति को नहीं, उसके यौवन को देखता हूँ।

भगवान बुद्ध ने एक बार कहा था कि 'भिक्षुओं के भीतर की बनावट मगध के खेतों जैसी होनी चाहिये" और ये खेत तो गया से पटना जाते हुए कितनी सुन्दरता के साथ दिखलाई पड़ते हैं, इसका वर्णन करना मन का काम है, न कि कलम या वाणी का। बरसात के दिनों में हरे-भरे, कातिक अगहन में सुनहल अन्न से भरे हुए और गर्मी के दिनों में धूल की चादर ओढ़े हुए और धूल के पर्दे के उस पार दूर-दूर पर दिखलाई पड़नेवाले गाँव, धुँधले चित्र की तरह। मैं ऐसे दृश्यों को देखता हुआ पटना की ओर जाता हूँ, पटना से गया लौटता हूँ। कभी देखा है—किसी स्टेशन पर पालकी रक्खी है, दुल्हन उतरती है। हवा में लिपटी हुई कच्ची हलदी की महक आती है और पालकी स्टेशन के फाटक से पार हो जाती है। पीली धोती पहने कुछ लोग उस पालकी के साथ जाते हैं और फिर पालकी कच्ची सड़क पर—किसी गाँव को ओर चली जाती है और गाड़ी भी आगे बढ़ती है। परम योगी की तरह निर्लिप्त भाव से गाड़ी हर्ष-शोक सबका भार ढोती है, उनका त्याग करती है, उन्हें आश्रय देती है। कभी-कभी देखता हूँ—अपने एक बच्चे को बगल में दबाये, दूसरे को घसीटती हुई कोई व्यग्र स्त्री दौड़ती हुई इंजन से लेकर गार्ड के डब्बे तक जाती है और इधर गाड़ी खुल जाती है। वह हाँफती हुई खड़ी होकर निराश और पराजित दृष्टि से गाड़ी को देखती है और शायद हमारे सौभाग्य को कोसती भी होगी, जो आराम से बैठे जा रहे हैं और वह अब दूसरी गाड़ी की प्रतीक्षा करने के लिए धीरज को पुकार रही है।

दूरी और समय—विज्ञान ने दूरी पर अधिकार प्राप्त कर लिया। हम कम-से-कम १२ घंटे में गया से पटना पहुँचते थे—तेज घोड़ा या इसी तरह की किसी सवारी पर; किन्तु अब तीन घंटे लगते हैं। गति जब तेज होती है तो समय उसी हिसाब से छोटा होता जाता है—दूरी के बाहर समय जा नहीं सकता। विज्ञान ने जब गति में तेजी ला देने का काम किया तो उसी हिसाब से समय भी छोटा हो गया। गया से पटना जाने को ही लीजिये। घोड़े पर या पैदल केवल तीन घंटे में कोई गया से चलकर पटना नहीं पहुँच सकता। रेल ने गति में तीव्रता—तेजी पैदा की और १२ या १६ घंटे की यात्रा ३ घंटे में पूरी हो जाती है। दूरी में कमी पैदा हुई और समय भी कम गया, जीवन भी छोटा हो गया। अमेरिका के

येल विश्वविद्यालय के वैज्ञानिकों ने एक सेकेंड का १० अरबवाँ भाग मापने का उपाय खोज लिया है। इस समय के आगे एक घंटा अनन्त काल बन गया, एक पल १० अरब साल बन गया, अब अपने जीवन का क्या हिसाब बैठेगा—यह हाल है। मैं जब आधी रात को गया से पटना की ओर चलता हूँ तो मेरा मन एक प्रकार की विचित्र स्थिति का अनुभव करता है। मैं उन गाँवों को देखता हूँ, जो लाइन के किनारे या कुछ दूर पर बसे हुए हैं। दिन को मैं इन गाँवों में शान्त हलचल देखता हूँ—बच्चे जाती हुई गाड़ी को देखते हैं। धूल में लिपटे हुए और अधनंगे बच्चे जो राष्ट्र के भविष्य हैं और हक्के-बक्के पशु दोनों तेजी से दौड़ती हुई गाड़ी को देखते हैं। उनका देखना बिल्कुल ही भावना-रहित होता है, क्योंकि उनके शान्त गाँव के किनारे पर से विज्ञान का एक लौह-निर्मित अजगर दिन भर जमीन कँपाता हुआ आता-जाता रहता है। रात को गाँव वाले देखते हैं कि वे अन्धकार में हैं, जबकि बिजली के जगमगाते अंटे गाड़ी के प्रत्येक कम्पार्टमेंट में प्रकाश उगल रहे हैं। रात को जब मैं यात्रा करता हूँ तो गाँवों को देखता जाता हूँ, जिन्हें गाड़ी एक झपट्टे में पीछे छोड़ देती है—मानों गाड़ी दौड़ती नहीं, बल्कि दूरी को पकड़-पकड़ कर पीछे फेंकती रहती है। यही उसकी गति है। वह दौड़ कर दूरी को पार नहीं करती—ऐसा कभी-कभी मुझे जान पड़ता है। रात को अन्धकार में सोये हुए एक शान्त बच्चे की तरह वे गाँव जान पड़ते हैं—किसी-किसी दरवाजे पर एकाध लालटेन टिमटिमाती नजर आती है। मैं अपनी कल्पना की आँखों से देखता हूँ—दिन भर के कर्मकोलाहल को निद्रा की चादर से ढाँककर गाव सो रहे हैं और इन कच्ची दीवारों वाले घरों में हँसी, रुदन, चिन्ता, शोक सभी भरे हुए हैं। आनेवाला भोर किसीके लिये आनन्द का संदेशवाहक होगा, तो किसीके हृदय में धड़कन पैदा करनेवाला। समय विकाररहित होता है, विकार हम में है। मैं "बराबर" की पहाड़ियों को बेला स्टेशन के तुरंत बाद देखता हूँ—दूर तक फैली हुई, उसके बाद छोटी-छोटी नुकीली चोटियोंवाली बराबर पहाड़ी को मैं वर्षों से देख रहा हूँ—कभी तेज धूप में, कभी घटाओं की धुँधली छाया में और कभी चाँदनी की विभा में। हजार साल से भी ऊपर के बौद्धयुग की कलामयी सुन्दर स्मृतियों को अपने भीतर छिपाये ये पहाड़ियाँ एक निर्लिप्त संत की तरह अपनी जगह पर खड़ी हैं। सुन्दर और रहस्यमयी गुफायें तथा उन गुफाओं के सम्बन्ध में कही और सुनी जानेवाली कहानियाँ आसपास के गावों में फैली हुई हैं और उत्तराधिकार के रूप में वे कहानियाँ सैकड़ों पुरुषों से कही और सुनी जा रही हैं—चली आरही हैं। गया से पटना जाते समय मार्ग में हम बराबर की पहाड़ियों को देखते हैं—केवल एक यही

ऐसा दृश्य है, जिसका अस्तित्व स्थायी है, सफल है और भावना-उत्तेजक है। दूसरे दृश्य पानी पर की रेखा हैं। हाँ, एक कहानी और है। पिछले बीस-पच्चीस साल से मैं गया पटना की यात्रा कर रहा हूँ। मैं एक "हॉकर" को नहीं भूलूँगा, जो अब नहीं रहा। शायद जब से अखबार बिकने की परिपाटी चली या गया-पटना लाइन आरंभ हुई, वह ठिगन-सा मुसलमान इस लाइन में दिनभर आता-जाता रहा। वह बिना माँगे अखबार हमें दे जाता और कहता कि —"पढ़िये और लौटा दीजिये। पढ़ने की आदत होगी तो फिर खुदा खरीद कीजियेगा।"

मैं उसे खूब पहचानता था और मेरी शकल देखते ही वह एक दर्जन अखबार और पत्र-पत्रिकायें 'बर्थ" पर डाल जाता। वह हँस-मुख और मस्त जीव था तथा यात्रियों का एक नेक मित्र। आज पटना-गया-लाइन उसके न रहने के कारण कुछ सूनी-सी है। बड़े आदमियों से लेकर, जो फर्स्ट या सेकेंड में यात्रा करते थे, थर्ड-क्लास में यात्रा करनेवाले भाइयों तक का ख्याल वह रखता था और इस लाइन में बराबर आने-जाने वाले तो उसके गहरे मित्र थे। उसकी सेवाओं को हम में से बहुत-से यात्री स्मरण करते हैं, जो इस पी० जी० लाइन से आते-जाते रहते हैं।

इसमें संदेह नहीं कि बिहार की सुन्दर धरती का एक लुभावना नमूना हमें गया से पटना जाते हुए देखने को मिलता है। हरी-भरी भूमि, दूर-दूर तक फैले हुए खेत —गाँव इतने सटे हुए कि एक साथ ही ५--६ गाँव तक देख सकते हैं और फसल के दिनों में अन्नपूर्णा की पवित्र झाँकी। बरसात के दिनों में घटाओं की जब श्यामल छाया इन गाँवों और खेतों पर पड़ती है, तो ऐसा जान पड़ता है कि जो संसार को डरावना, मिथ्या और कष्टों का कारण मानते हैं, वे कितने दयनीय हैं, कितने भ्रमग्रस्त हैं। सुन्दर धरती, खिलौने जैसे गाँव, प्यारे पशु पंछी और जलभरी नदियाँ, अन्नभरे खेत, भोलेभाले निर्दोष बच्चे — क्या सौभाग्य और सौन्दर्य के इन नमूनों को हम नाशवान, कष्टदायक और त्याज्य समझें? जो सुन्दर है, वही शिव है और जो शिव है, वही सुन्दर—संसार शिव और सुन्दर है, फिर यह सोचना ही व्यर्थ है कि यह सत्य है या नहीं। यदि यह सत्य नहीं है, तो शिव और सुन्दर कैसे है? सत्य नाशवान् नहीं हो सकता। चित्रों के - रंगीन चित्रों के झरने की तरह दौड़ती हुई गाड़ी की खिड़कियों से बाहर के दृश्य देखता हुआ पटना की ओर जा रहा हूँ। गर्मी की गरम धूलभरी हुई दोपहरी में भी इस लाइन से जाने का अवसर आया है, तपे हुए प्लेटफार्म पर दौड़नेवाले यात्रियों को विभिन्न स्टेशनों पर देखता हूँ और जब कोई यात्री मेरे कम्पार्टमेंट में व्यग्र-सा घुसता है, तो वह अपने साथ बाहर की गर्मी और कुछ धूल भी लिये आता है—उसके गरम

कपड़े अपने आसपास के वातावरण को गरम कर देते हैं और फिर सब कुछ पूर्ववत् हो जाता है।

बाहर जलती हुई धूप में धूलभरी कच्ची सड़क पर अपने थके हुए बैलों की पूँछ उमेठते हुए जानेवाले उस व्यग्र गाड़ी-वान को भी मैं देख लेता हूँ, जिसका मन उसकी गाड़ी के आगे-आगे दौड़ रहा है तथा दूर पर स्निग्ध छाया देखकर जो निश्चय ही अपनी गाड़ी के सुस्त बैलों को कोस रहा होगा।

टेलीग्राफ के तार पर बैठ कर हाँफने-वाली चिड़ियों को और गाड़ी को देखकर पूँछ उठाकर कुछ दूर तक दौड़ जानेवाले जवान बैलों को मैं सदा याद करता हूँ तथा किसी-किसी घर के अधखुले दरवाजे को भी मैं नहीं भूलता, जिसमें से एक जोड़ी काली, शान्त और स्थिर आँखें तेजी से दौड़नेवाली गाड़ी को देखती हैं, जो अपने पीछे काला धुआँ, धूल और हल्का-सा भूकम्प छोड़ जाती है। गया से पटना की यात्रा एक छोटी-सी यात्रा है और भगवान् बुद्ध की तपोभूमि से आरंभ होकर महान् सम्राट् अशोक की राजधानी में जाकर समाप्त हो जाती है। रेल पर जाते हुए मैं यह सोच कर उदास हो जाता हूँ कि विज्ञान ने हमें तो स्थावर बना दिया और 'जड़' में गति पैदा कर दी! दुनिया की घड़ी उलटी ओर अपने काँटों को घुमा रही है—क्या यह शुभ है?

कलाकार

मेरा किसी से संघर्ष नहीं रहा,
क्योंकि संघर्ष के उपयुक्त पात्र मिले ही नहीं;
प्रकृति मेरी प्रेयसी रही
और प्रकृति के बाद कला!
जीवन की धूनी में आनन्द से दोनों हाथ सेंका किये;
वह ठंडी पड़ रही है,
और मैं भी प्रस्थान के लिए आसनी समेट रहा हूँ!

—लैंडर

आलोचना की नई दिशा

प्रो० केसरीकुमार

आधुनिक आलोचना अभी तक प्रयोगावस्था में ही है। आलोचना की सम्भावनाएँ जितनी अनिश्चित आज हैं, उतनी पूर्व में कभी न थीं। कल तक शोध और मूल्यांकन के कुछ विशिष्ट पक्षों पर जो बल दिया जा रहा था, वह आज स्थानान्तरित हो रहा है और कुछ समस्याएँ जो कुछ दिन पहले समाप्त-सी हो गई थीं, आज फिर नये सिरे से उठ खड़ी हुई हैं। 'समाजशास्त्रीय' बाढ़ उतर रही है और उसके पीछे नई उर्वर-भूमि, साहित्य और समाज के सम्बन्ध की अपेक्षाकृत अधिक निश्चित और समृद्ध भावना के रूप में, निकलती जा रही है। मनोविश्लेषण की तरंग भी लौट चली है। आलोचना के क्षेत्र में इसकी क्या देन होगी, कहना कठिन है। पर यह तो निश्चित है कि इसके साथ एक नया दृष्टिकोण, एक नई जिज्ञासा आई है और आलोचकों के व्यापार-क्षेत्र में एक नया वृत्त जुड़ गया है। कुछ कम आकस्मिक और नाटकीय ढंग से मनोवैज्ञानि जिज्ञासा अथवा प्रवृत्ति का आगमन हुआ है और इसीलिए यह देर तक ठहरेगी। प्रभाववादी और वाह्यमापदंडी प्रवृत्तियों में एक प्रकार का समझौता हो चला है। यह अनुभव किया जा रहा है कि आलोचना मात्र आत्माभिव्यक्ति नहीं है, प्रत्युत् इसकी आत्मनिष्ठ पहुँच का उद्देश्य वस्तुनिष्ठ है। साथ ही यह भी अनुभव किया जा रहा है कि मापदंड अपने-आपमें कुछ नहीं हैं; महत्त्व तो अनुभूतियों के उन प्रयत्नों का है, जो प्रत्येक नये उदाहरण में उन्हें नये रूप-रंग में ढूँढ़ निकालते हैं। और, इस प्रकार उनका अन्वेषण करना उनका पुनर्निर्माण करना है। वैयक्तिक स्वातंत्र्य के सिद्धांत ने निर्णयात्मक आलोचना को मर्माहत कर दिया है और तुलनात्मक पद्धति से उत्पन्न प्रतिक्रियाओं ने उसका महत्त्व छीन लिया है। वैज्ञानिक प्रणाली में अब भी अनुसंधान जारी है और उसमें विकास की सम्भावनाएँ हैं।

साहित्य के अन्य अंगों की भाँति हिन्दी

आलोचना भी अवाध गति से बढ़ी है। 'क्या ही सुन्दर भाव हैं!' 'अनुप्रास का रूप कितना मनोहर है कि सुनते ही बनता है!', 'इससे अच्छा हो ही नहीं सकता!' —जैसी भावुकतापूर्ण उक्तियाँ आज विरल हो गई हैं। हिन्दी के पाठक सस्ती भावुकता से ऊपर उठ चुके हैं। उनका विवेक अधिक कलात्मक तथा उनका दृष्टिकोण अधिक बौद्धिक, विवेचनात्मक और विस्तृत हो गया है। आलोचना के क्षेत्र में जो कोलाहल सुनाई पड़ रहा है, उसके दो कारण हैं। प्रथमतः आलोचना के भारतीय सिद्धांत, जो सदियों को पारकर निश्चित-से हो गये थे, आज नई समस्याओं को देखकर, चिंतित हो उठे हैं। वे नये सर्ग खोलने को आकुल हैं। उन्हें अभी निश्चित पथ नहीं मिला है और उनके पाँव नई समस्या-संकुल भूमि पर चलने में प्रायः डगमगा जाते हैं। पर हमारा विश्वास है कि नाना जातियों और चिंताओं को अपने में समेट लेनेवाले देश का आलोचना-सिद्धांत निकट भविष्य में अपना पथ ढूँढ़ लेगा। द्वितीयतः आज जब संसार में जीवन की पारस्परिक निर्भरता की कड़ियाँ अत्यंत दृढ़ हो गई हैं, तब स्वभावतः भारतीय आलोचना की धारा विदेशी धाराओं से टकरा रही हैं और अभी दोनों एकरस नहीं हुई हैं। अतः हिन्दी को स्वर्गीय शुक्ल जी ने रूप दिया था जो, वह आज विपथगा हो रही है।

बाबू गुलाब राय जी 'सिद्धांत और आलोचना' में लिखते हैं "भारतीय मनीषियों ने जो सैद्धान्तिक चिंतन किया है, वह किन्हीं अंशों में तो नवीन सिद्धांतों से आगे बढ़ा हुआ है और कम-से-कम उनसे टक्कर लेने में समर्थ है। उसके आधार पर आजकल का-सा समीक्षा-शास्त्र रचा जा सकता है।"

प्रभाकर माचवे शायद टी० एस० एलियट का समर्थन करेंगे, जो 'काव्य और आलोचना की उपयोगिता' में कहता है कि प्रत्येक सौ वर्षों के बाद किसी ऐसे आलोचक का जन्म अवश्य होना चाहिए, जो पिछली शताब्दी के कलाकारों का मूल्यांकन और स्थान-निर्णय नये ढंग से करे।

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी मानते हैं कि भारतवर्ष के पंडितों ने अनेक रगड़-झगड़ के बाद एक सामान्य साधन (कॉमन स्टैंडर्ड) बनाने की चेष्टा की थी, पर काल-परिवर्तन के साथ वह अस्त्र भी भोथा हो गया। फिर भी उनका विश्वास है कि पुराने पंडितों के सुझाए हुए मार्ग से नये स्टैंडर्ड का उद्‌भावन किया जा सकता है। इसलिए 'विचार और वितर्क' में वे इसे हिन्दी का दुर्भाग्य समझते हैं कि इसके आलोचकों को मैथ्यू आर्नल्ड से फुर्सत ही नहीं मिलती।

दूसरी ओर 'समालोचना का महत्त्व' आँकते हुए राहुल सांकृत्यायन चेतावनी ... कि हमारे प्राचीन साहित्य में भरत,

दंडी, भामह से लेकर विश्वनाथ और पंडित-राज तक साहित्य के मापदंड की स्थापना करने में प्रयत्नशील रहे, जिसका अनुसरण रीतिकाल में भी हुआ। इस प्रयत्न से साहित्य को लाभ ही लाभ नहीं हुआ, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन यह दोष मापदंड-स्थापना-संबंधी प्रयत्न का नहीं, बल्कि उस समय की कूपमंडूकता, एकदेशीयता और समाज की प्रतिकूल परिस्थिति का है। आज परिस्थिति दूसरी है। आज का कोई भी जीवित साहित्य एकदेशीय नहीं हो सकता। विश्व साहित्य के प्रभाव में आकर आज कोई भी साहित्य अपने घर में बैठकर मियाँमिट्ठू नहीं बन सकता।

डा० नगेन्द्र आनन्दवादी हैं; इसलिए कहेंगे कि साहित्य आत्माभिव्यक्ति है। आत्माभिव्यक्ति ही आनन्द है, रस है—पहले स्वयं लेखक के लिए, फिर प्रेषणीयता के नियमानुसार पाठक के लिए। साहित्य वैयक्तिक चेतना है, सामूहिक नहीं। समीक्षा में भी वे समीक्षक की आत्माभिव्यक्ति को प्रमुख मानते हैं और स्वभावतः साहित्य के अन्य अंगों की भाँति समालोचना में भी साधारणीकरण को अनिवार्य समझते हैं।

पर विरोध में डा० रामविलास शर्मा कहेंगे कि यह आवश्यक है कि हम साहित्य का मूल्यांकन सामाजिक संघर्ष की पृष्ठभूमि में भी करें। साहित्य-रचना एक सामाजिक क्रिया है जो मनुष्य के मन पर अपना प्रभाव छोड़ती है और इन संस्कारों द्वारा उसके कार्यों को बाँध लेती है। यदि मनुष्य के सामाजिक कर्म पर साहित्य का प्रभाव न पड़े तो समालोचना का कार्य बहुत सरल हो जाय, यद्यपि उसके साथ ही साहित्यकार का दर्जा भी घटकर बहुत छोटा हो जायगा।

बाबू गुलाब राय जी आदि आलोचकों को रसधर्मी कहा जा सकता है। उनका दृष्टिकोण शास्त्रीय है। मेरी धारणा है कि भारतीय आलोचना के रस, ध्वनि और औचित्य सिद्धान्त हमारे साहित्यिक अभियान के संग दूर तक चलेंगे। मार्क्सवादियों का अभियोग है कि रस-सिद्धान्त में व्यक्ति को प्राधान्य दिया जाता है। भावों को काल और समाज-निरपेक्ष मानकर स्थायी कहा जाता है जबकि परिस्थिति के परिवर्तन के साथ रागात्मक भावों और मूल्यों में भी परिवर्तन होता जाता है। फिर यह कि रस को अलौकिक कहा जाता है जबकि साहित्य चिरंतन रूप में मनुष्यों को अपनी विभिन्न अनुभूतियों द्वारा विभिन्न कर्मों की ओर प्रवृत्त होने की प्रेरणा भी देता है। संक्षेप में उनकी शिकायत यह है कि रस-सिद्धान्त साहित्य के सामाजिक उत्तरदायित्व का ध्यान नहीं रखता, अतः वह वर्त्तमान जाग्रत साहित्य का उचित मापदंड नहीं बन सकता। मेरे जानते खाई दोनों ओर से खोदी गई है। मार्क्सवादियों ने इसको उदार दृष्टि से नहीं देखा है। रस-सिद्धान्त में व्यक्ति और समष्टि के अभिनव सम्मिलन

का भाव है। साधारणीकरण में व्यक्ति अपने वैयक्तिक सुख-दुख, घृणा-द्वेष को भूलकर जब इस स्थिति में पहुँचता है तब वह एक विशाल समूह का सामान्य प्राणी होता है। समष्टि की भावना के अभाव में एक नाटक को देखकर विशाल जन-समूह का आनन्दित होना सम्भव नहीं। इस प्रकार कॉडवेल का 'सामूहिक भाव' और इस सिद्धान्त का साधारणीकरण अत्यंत निकट हैं। हम यह भी मानते हैं कि साहित्य से व्यक्ति का निर्वासन सम्भव नहीं। साहित्य व्यक्ति रचता है यद्यपि प्रेरणा आवेष्ठन की होती है। कला की सम्पूर्ण प्रक्रिया भारतीय साहित्य के अवतारवाद में रूपायित है। अवतार में अरूप रूपायित होता है, कला में भी। सुनते हैं अरूप मौज में आकर अवतरित होता है, पर उसकी इस मौज में लाख व्यक्तियों की आह और पुकार छिपी होती है और इसके रूपायन पर लाख-लाख व्यक्तियों का स्वर्ग उतरता है। समाज का व्यक्ति पर प्रभाव पड़ता है पर कभी-कभी समाज को बदल देनेवाला, काल की धार को मोड़ देनेवाला पुरुष भी पैदा होता है। पर साथ ही हम यह भी मानते हैं कि रससिद्धान्त को व्यापक रूप में ग्रहण करना चाहिये। नौरस और इसी प्रकार सीमित भाव-अनुभाव चल नहीं सकते। संख्या का निश्चय तो श्रेणीबद्धता की उस प्राचीन परिपाटी ने किया था जिसने कलाओं की लम्बी सूची देकर भी उनकी संख्या निश्चित कर दी थी। हालांकि प्राचीन पंडितों में संख्या-सम्बन्धी विवाद चलता रहा। नौ रसों को लेकर चलने से साहित्य का मूल्यांकन इस प्रकार का होगा—"(सेवासदन में) हिन्दू-समाज में वेश्याओं के प्रति आदर भावना है, वह वीभत्स रस का उदाहरण है।" स्पष्ट है कि यहाँ द्रव्य नहीं, मूल्यांकन की कसौटी ही खोटी हो गई। जिस तरह कुछ वर्ष पूर्व भक्ति की गणना रस में हो गई और भारतेन्दु के नये रस भी मान्य हो गये उसी तरह आज भी एक परिपक्व भाव को रस संज्ञा देने के लिए साहित्य को तैयार रहना चाहिए। ावों की संख्या रखकर चलने के कारण शुक्ल जी को सूरदास की आलोचना करते समय एक स्थान पर 'भावशबलता' की कल्पना करनी पड़ी यद्यपि उनको संतोष नहीं हुआ। प्राचीन पंडितों का आदर करनेवाले हजारी प्रसाद जी 'साकेत' में 'परिवारिक रस' पाते हैं। विशाल-कुल-सम्भव नायक और नायिकाओं की चर्चा व्यर्थ है, खासकर आज जब होरी की कौन कहे कि नदी, सम्पूर्णराष्ट्र आदि नायक-नायिकाओं के पद पर आरूढ़ हो रहे हैं।

हम यह भी मानते हैं कि विदेशी साहित्य और मान्यताओं से प्रभावित भारतीय साहित्य को विशुद्ध देशी दृष्टिकोण से देखना भी अनुचित है। 'प्रसाद जी के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' तो प्रस्तुत किया गया पर क्या उससे उन नाटकों की समस्त विशेषताएँ सामने आ सकीं? प्रसाद

जी के नाटकों की एक प्रमुख विशेषता यह है कि उन्होंने बड़े कौशल से अपने नाटकों में भारतीय नियताप्ति तथा यूरोपीय निगति का मेल करा दिया है और इस प्रकार कला एवं आदर्श दोनों की रक्षा की है। शुक्लजी ने छायावाद को शैली मात्र माना। शुक्लजी के कथन में भी कुछ वजन है, पर भूल यह हो गई कि उन्होंने छायावाद को केवल शास्त्रीय दृष्टि से देखा। हजारी प्रसादजी भारतीय दृष्टिकोण के प्रेमी हैं, पर उन्होंने भी माना है कि छायावाद पश्चिम से आनेवाले व्यक्तिवाद के अंतिम प्रारोह का नाम है।

हजारी प्रसाद जी प्रवाहधर्मी आलोचक हैं। उनकी दृष्टि में व्यक्ति प्रवाह की तरंग है; यानी व्यक्ति के माध्यम से वे प्रवाह का अध्ययन करते हैं। एलियट और उसके सहधर्मी लीविस भी कलाकारों को इतिहास की परम्परा में देखते हैं। आलोचना की यह ऐतिहासिक पद्धति साहित्य वा कला के विकास के अध्ययन के लिए आवश्यक है। इस दृष्टि को सामने न रखने के कारण शुक्ल जी ने भक्ति साहित्य को मुसलमानी आक्रमणों का परिणाम माना और यह भी कहा कि भारतवर्ष में ज्ञान और भक्ति के क्षेत्र अलग-अलग होने के कारण यहाँ रहस्यवाद उत्पन्न नहीं हुआ। पर इस पद्धति में इस बात का खतरा भी बना रहता हैं कि प्रवाह के सामने आलोच्य व्यक्तित्व गौण न पड़ जाय। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि धारा विशेष में स्थान देने के लिए आलोच्य विषय वा व्यक्तित्व को ही तोड़-मरोड़ दिया जाता है।

मार्क्सवादी आलोचकों के इस सिद्धांत को, कि समाज और साहित्य में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, स्वीकार करने में विशेष कठिनाई नहीं होती, पर उनका यह कहना कि 'साहित्य का आधार अन्ततः आर्थिक होता है' विवादास्पद है। वर्ग की अनिवार्यता और चेतना का तिरस्कार भी संकीर्ण अर्थ में अमान्य हैं। वे अज्ञेय को दोमुँहा साहित्यिक इसलिए कहते हैं कि उन्होंने नेहरू अभिनन्दन ग्रंथ का सम्पादक बनना स्वीकार कर लिया है। वे पंत जी की 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' में टाटा और बिड़ला का सोना देखते हैं, चूंकि पंत जी मार्क्स से अरविन्द की ओर चले गये हैं।

हम बेसिल विली आदि पश्चिम के तथाकथित युगधर्मी आलोचकों के इस सिद्धांत को मानते हैं कि कोई भी भावना कम या अधिक मूल्यवान नहीं है। भावनाओं का मूल्य युगपरिवर्तन के साथ बदलता रहता है, अतः औचित्य को भी युग का ध्यान रखना पड़ेगा। इस सिद्धांत ने आधुनिक आलोचना को जहाँ रूढ़िमुक्त किया है वहाँ इसने खतरे की घंटी भी बजाई है क्योंकि यहीं श्लील-अश्लील, नग्न-आवृत्त आदि के प्रश्न उठ खड़े होते हैं। फिर प्रत्येक युग में जब भावनाएँ करवट बदलती

हैं, तब उनके साथ भाषा, छंद आदि सभी बदल जाते हैं। अतः प्रत्येक युग के आलोचनादर्शों में समयानुकूल संशोधन-परिवर्द्धन का होना भी अनिवार्य है क्योंकि सिद्धांत साहित्य से उद्भूत होंगे न कि सिद्धान्तों से साहित्य। हम एक ही मापदंड से तुलसी, बिहारी और जयशंकर को नहीं माप सकते। पर जहाँ हम मानते हैं कि प्रत्येक युग शब्दों को विशिष्ट अर्थों में ग्रहण करता है वहाँ जार्ज लूकस के इस कथन के सत्य को भी स्वीकार करते हैं कि साहित्य में आविष्कार नहीं; अनुसंधान होता है। तात्पर्य यह कि परम्परा से सर्वथा विच्छिन्न करके हम किसी के साहित्य का उचित मूल्य नहीं आंक सकते।

फिर चूँकि आलोचनादर्शों, औचित्य, विचारोत्कर्ष आदि के रूप में मूल्य बदल जाते हैं, इसलिए आधुनिक आलोचक — लिविस, रिचर्डस् आदि शब्द पर अधिक बल देते हैं। कविता शब्दों के द्वारा संज्ञापित होती है, अतः यह न देखकर कि प्रतिपादित भावनाओं की महत्ता क्या है यह देखना चाहिए कि शब्दों में उनकी अभिव्यक्ति कैसी हुई है। इस सिद्धांत में बल है किन्तु इसके अनुगामी कभी-कभी शब्दों की गणना करके आलोचना को शब्दों का गोदाम बना देते हैं। हाँ लिविस ने शब्दों के अतिरिक्त कवि की अनुभूतियों को व्यापकता को भी दृष्टि में रखा है। जिस कवि की अनुभूति जितनी व्यापक होगी, जो जीवन के जितने अधिक क्षेत्र को अधीकृत करेगा, वह उतना ही महान् समझा जायगा। इस दृष्टि से तुलसी सूर से बड़े कलाकार कहे जायेंगे। भावुकता केवल जीवन की परिस्थितियों की पहचान में ही नहीं है। यह भी देखना होगा कि उन परिस्थितियों में कवि कहाँ तक डूब सका है और उनका कैसा प्रकाशन कर सका है।

मनोविश्लेषण आलोचना में एक निश्चित सीमा तक ही सहायक हो सकता है। श्रेष्ठ साहित्य में कलाकार अपने 'स्व' का विसर्जन कर देता है। शेक्सपीयर के अधिकांश नाटकों में यह कहना कठिन है कि कौन-सा पात्र लेखक का प्रतिनिधित्व कर रहा है जब कि प्रसाद जी के नाटकों में यह बतलाना अपेक्षाकृत सरल है। मनोविश्लेषण इन दूसरे प्रकार के ग्रंथों के अध्ययन में ही सहायक हो सकता है, प्रथम प्रकार में नहीं। अतः मनोविश्लेषण आधुनिक आलोचना का प्रमुख अंग नहीं बन सकता।

तुलनात्मक पद्धति को मैं अत्यंत वैज्ञानिक और व्यावहारिक मानता हूँ। बाजार में एक साधारण आदमी भी एक चीज के दो नमूनों को सामने रखकर जान लेता है कि कौन घटिया है और कौन बढ़िया। पर आज तुलना की तुला में तौलनेवाले बन्दर-बाँट लगाने लगते हैं और इसीलिए यह प्रणाली अत्यंत दूषित हो गई है। तुलसीदास ने ठीक ही कहा था—को बड़ छोट कहत अपराधू।

आलोचना की एक और प्रणाली है जिससे आज के आलोचकों को सतर्क होना है और वह है निर्णयात्मक आलोचना की पद्धति। आज का युग जनतंत्रात्मक है। प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र चिंतन के अधिकार का दावा करता है। अतः आज निरंकुश रूप में मैजिस्ट्रेट की तरह फैसला लिख देना कठिन है। कभी किसी आलोचक ने निर्णय दिया था—'अब के कवि खद्योत सम जहँ तहँ करत प्रकास'। 'बची खुची 'कबिरा कही, और कही सब झूठी।' इस प्रकार का निर्णय आज तूफान खड़ा कर दे जब कि आलोचना का उद्देश्य वर्त्तमान और भविष्य के लिए साहित्य के मूल्यांकन का एक सर्वप्रायमान्य मापदंड का उद्भावन करना है।

आजकल कॉलेज और युनिवर्सिटियों में शोध की प्रवृत्ति बढ़ चली है। शोधधर्मी आलोचना आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिणाम है जो कार्य-कारण सम्बन्ध से तुष्ट होता है। शोध ने अध्ययन के नये क्षेत्र उद्घाटित किये हैं और साहित्य के विभिन्न अंगों पर नया प्रकाश डाला है। पर जब शोध का आधार हलका हो जाता है, तब यह अपकारक बन जाता है। एक व्यक्ति ने अपने शोध में तुलसी दास को वनस्पति शास्त्र का पंडित ठहरा दिया है और एक अन्य अनुसंधान कर्त्ता ने सूरदास पर ईसाई मत का प्रभाव पड़ते देखा है क्योंकि ईसाइयों की पापस्वीकृति और सूरदास की दीनता में समता है। फिर साहित्यकार की महत्ता मौलिकता में है, न कि प्रभाव में। शोधकर्त्ता मूलस्रोत के अनुसंधान में प्रायः इस तत्त्व को गौण कर देते हैं।

हमारी दृष्टि में निम्न लिखित सिद्धांत निरापद हैं और उन्हें हम आसानी से आधुनिक आलोचना सिद्धांतों में स्थान दे सकते हैं—

१। लेखक स्वरचित साहित्य का शब्दों के माध्यम से, कितना संज्ञापन कर सका है।

२। उसने असने स्व का कितना विसर्जन किया है।

३। उसने जीवन के कितने व्यापक क्षेत्र को अर्धकृत किया है।

४। उसने अपने व्यापार-क्षेत्र में अपने को कितना लय किया है।

५। उसने अभिव्यक्ति की सम्भावनाओं का कितना विस्तार किया है।

लोकतंत्र

यदि आपके समाज का स्वरूप लोकतंत्रात्मक है और फिर भी आपका विकास नहीं हो रहा है तो यह समझना चाहिये कि आपका लोकतंत्र उसी प्रकार असफल हो गया जैसे कोई राजनैतिक विचारधारा, जो जनता को राजनैतिक स्वतंत्रता दिलाने में सफल नहीं हुई।

—पं० नेहरू

पूरब और पच्छिम

[३]

एक वह दिन था कि आसमान से मेनका या रम्भा उतरती रहीं हमारी इन्द्रियों का अनुपम आतिथ्य जुगाने; एक आज है कि समुद्र के उस पार से विलायती सभ्यता की लावण्य-लीला उतरी है टिकाऊ की जगह लुभाऊ के कम्पे लगाने।

सनीचर की रात है—कलकत्ते की अपनी बहार की रात—जवानी की सुहाग की रात। मगर क्या अजब कि साहब-बहादुर अन्दर कमरे में ही गुमसुम बैठे-के-बैठे रह गये। वे क्या मुँह लेकर हमारे सामने आते; कहीं के न रहे वे आज!

हां, उनके खानसामे से गुपचुप पता चला कि साहब बेचारे तो खैर जैसे भी रहें, वह मीनी तो आज बे-खाये ही रह गई और रात के लिए भी कोई वैसी उम्मीद नहीं; चूँकि आज की रात तो मेम साहबा आधी रात के पहले वापस आने से रहीं, और रात के दाना-पानी के लिए कोई आर्डर दिये बगैर ही वह जाने कहाँ सरक गईं। साहब के पास तो कानी चित्ती भी न रही। आदमी ठहरे सीधे-सादे। ब्याह के दस दिन के अन्दर ही अपनी बीवी की बनी-चुनी बातों में आ उसे अपनी सारी पूँजी दे बैठे। वह एक ही चालाक-चुस्त! इस घर में क़दम रखते ही अपने त्याग, स्नेह और माया का वह जाल खड़ा कर दिया कि साहब आ गये उस चकमे में—काट बैठे हाथ। एक-आध साल तो उसने बड़े मज़े में निबाहा; मगर यह रंग की कलई कब तक टिक पाती। उसने तो वह नहले पर दहला दिया कि बस।

मैंने पूछा कि वह कैसे, तो हँसकर बोला—

वह ऐसे कि दोनों तरफ से एक दूसरे की आँख में धूल डालने की बन्दिश थी।

साहब को पता न था कि वह ऐसी कलमुँही नेटिव क्रिस्तान होगी। वह चेहरे की चाँदनी एक गुलाली घांधली थी बस। किसी ब्यूटी-सलून में काम करती रही—चेहरे पर रंग चढ़ाने के फ़न में बेजोड़।

"इधर साहब का सिन ढल चुका था। उन्हें पड़ी थी कि जल्द-से-जल्द मिले कोई — पाँव तले घास न जमे। बस, दायें देखा न बायें, सलून वाली मेम की सिपारिस पर ढल गये कि मिल रही है एक कमसिन, न सही वैसी विलायती; सोना नहीं तो सोने का पानी तो है!

"मगर यहाँ तो ठठेरे-ठठेरे बदलौअल थी! उसने साहब के सिन को नहीं देखा, देखा उनके विलायती रंग को — उन दिनों उनकी सजधज, मिलिटरी वर्दी और सुफ़ेद बाल पर जाने क्या ऐसी रंग-साज़ी थी कि वह भी भाँप न पाई—यह सिन चालिस के उस पार ही नहीं, साठ का पड़ोस भी है!

'उसे यह भी पता न चला कि साहब कुछ वैसे अमीर नहीं—बस जैसे-तैसे निभी जाती है शरीफ की दाल-रोटी। ब्याह के दो दिन के अन्दर ही उनकी असली अवस्था वह ताड़ गई। आखिर उनका बुढ़ापा उससे परदा कैसे रहता! और, उनको शायद उसे पहचानने में काफ़ी देर हुई—उन्हीं को क्या, हर-किसी को हफ्तों बाद उसके अपने असली रंग का पता चला!

"मुँह-अँधेरे, जब साहब बेखबर सोये ही रहते, वह उठ कर ड्रेसिंग-रूम में बन्द हो जाती, और फिर आठ बजे 'ब्रेकफ़ास्ट' की टेबिल पर ही बन-सँवरकर दिखाती अपनी सूरत। इसी बीच अपनी सेवा का सब्ज़बाग़ खड़ा कर साहब पर जादू डाल रखती।"

मैंने कहा—"मुझे तो आज ही नज़र आई कि वह वैसी क्या है; महीनों मैंने कुछ और ही समझ रखा था!"

वह हँस पड़ा। बोला—"आज तो शायद यह पहला दिन है कि एकाएक लहू के उफान पर ऐसी बेसुध हो गई - बग़ैर मुँह पर रंग भरे मकान के बाहर क़दम रख दिये। उसपर जो बीती हो, जाने वह; पर साहब बेचारे तो कट कर रह गये।"

"तो घर के अन्दर वह अब अपनी सूरत पर आ गई?"

"जी, बराबर! अब साहब की परवा क्या है, और साथ का सरोकार ही कितना है—वह कब गई, कहाँ गई, किसके साथ गई, कितनी रात गये आई — साहब को पता भी हो! सनीचर की रात तो उसकी अपनी रात ठहरी — आधी रात तक भी लौटी, तो सबेर ही आई! हम ठहरे साहब के जाने कितने साल के नमकख्वार; जब देखा न गया तो इशारे से जता ही दिया कि 'इस क़दर ढील देना तो हुज़ूर को फबता नहीं—यह हद की भी हद है आखिर।' मगर साहब की रगों का लहू तो पानी हो चुका है! लगे समझाने कि 'नहीं-नहीं, वह कुछ वैसी छुच्छुम नहीं, आखिर तो सिन का तक़ाज़ा ठहरा; नाच-तमाशे का शौक़ तो

हमारे यहाँ कुछ वैसा हराम नहीं—हाँ, हमें इतना इतमीनान है कि वह दिल से हमारे साथ है।' मगर क्या साथ है जब हज़रत को पता तक नहीं कि वह किस-किस के साथ झूमती फिरती है आधी रात तक। हाँ, कोई सूरत या सीरत की स्याही न देख पाये यहाँ दोनों मियाँ बीवी साथ जरूर हैं, और वह पहरा है कि बस! आज यह कैसे भूल हो गई---इसी को लेकर क्या बताऊँ कैसी कचट है साहब के दिल में। वह तो बूढ़े पति को यों बुरी तरह झँझोरती रहती है कि दिल दहल जाता है, मगर वाह ही साहब की शराफ़त! वे कभी जो मुँह खोलते हों जवाब में!"

मैंने कहा कि उनकी ज़बान से तो बीवी के लिए मधु ही झरता है बराबर।

"कुछ न पूछिये, उसकी तो छूट है, जो जी चाहे करे, और वह एक ही मन-मौजी! बस अपनी ही किये जाती है आठों-पहर।"

"मगर तुम्हारे साहब तो बराबर घर ही में......।"

"करें क्या बिचारे! उनके अपने साथी-संगी सब छूट गये। इन साहबों के अन्दर भी वह जातपाँत का जंजाल है कि बस हम कहीं अच्छे हैं—बदनाम जो हों। किसी गोरे साहब या मेम ने हिन्दुस्तानी से ब्याह किया कि वे बैठे-बिठाये डूब गये—जात से खारिज़! क्लब में भी गुज़र नहीं! वह लाख मुँह पर रंग की पालिश दे—उससे क्या? पानी पानी है, शराब शराब। भरसक हमारे साहब और मेम आज कहीं के न रहे अँग्रेजों की पाँत में। एक वह दिन था कि साहब के घर लंच और डिनर की धूम रहती, बड़े-बड़े गोरे अफसर अपनी मेम के साथ बराबर जमे रहते, ह्विस्की का दौर-पर-दौर रहता आधी रात तक; और एक आज है कि चिड़िया का पूत तक नहीं झाँकता।"

"मगर हमने तो एक-आध दिन साहब के यहाँ दो-चार नये......।"

"जी हाँ, वे इन्हीं की तरह पुँछ-कटे हैं—इने-गिने। एक तो शायद आपके ही जिले के कोई अफ़सर हैं जिन्होंने किसी बंगाली प्रोफेसर की लड़की से शादी कर ली है—एक-आध बार आये हैं साहब से जाने क्या पूछ-ताछ करने।"

मुझे बड़ा कुतूहल हुआ कि वह कौन है ऐसा हमारे जिले का अफ़सर, और यह साहब का बूढ़ा खानसामा एक ही होशियार है जो यों आँख-कान खुला रखता है बराबर। पूछा भी कि आखिर तुम्हें यह कैसे पता है, तो उसने हँस कर फ़रमाया कि 'कुछ धूप में थोड़े ही पकाये हैं बाल हमने—और तो और, साहब की बड़ी लड़की भी बाप के घर नहीं ठहरती अब!'

"बड़ी लड़की?"

"जी, उसकी शादी हो चुकी है—कोई सात साल होने को आये। उसका शौहर भी कोई अफसर ही है चटगाँव की

तरफ। कभी वे कलकत्ते आये भी तो किसी होटल में अलग ही ठहरे। साहब वहीं जाकर मिल आये बस। लड़की एकाध बार बाप से मिलने यहाँ आई तो मत पूछिये, हमारी मेम साहबा की तो नानी मर गई। सुबह आठ का वक्त होगा, यह छोटी बच्ची नीचे सहन में थी—दीदी के गले की आवाज़ पहचान इसने किवाड़ जो खोल दिये, तो मेम साहबा बदहवास कन्नी काट ड्रेसिंग रूम में सरक गईं। साहब को भी थरथरी थी कि कहीं भगवान की दी हुई उसकी सूरत पर बड़ी लड़की की नज़र तो न पड़ी। आध घंटे बाद जब वह बन-सँवरकर बाहर भी आई, तो कतराकर ही चलती रही—आँखें चार न कर सकी। वह बड़ी बहन चाहती रही छोटी को साथ रखना—साहब के सामने उसने दबी ज़बान से छेड़ा भी मगर बाप की आँखों के उछलते आँसू देखकर वह ज़ोर दे न सकी। यह बच्ची बेचारी भी चाहती होगी इस जेल से छुटकारा, पर करे क्या, वही तो बूढ़े बाप की आँखों की पुतली ठहरी। वह जाती है तो बूढ़े को किसपर छोड़कर! नई माँ पर? राम कहिये, मौत भी उससे कहीं बेहतर होगी।"

"अच्छा भई, यह आज क्यों बैठे-बिठाये बिचारी की ऐसी मरम्मत हो गई!"

"बे-क़सूर। भगवान भला करे आपका जो अपने सर जुर्माना ओढ़ उसकी जान बचा दी। तेल की शीशी तो बस दिखाने-भर को हाथी का दाँत थी, उसकी फरमाइश तो रही अपने चेहरे का कोई रंग-रोग़न! शुदनी वक्त, कोई और घर में मौजूद नहीं, और उसे थी बड़ी जल्दी, नहीं तो बच्ची के सर यह बला क्यों आती। इधर साहब को जाने क्या तलाश थी, हो न हो—विलायती ख़िज़ाब। उधर बीवी को स्याह को सुफ़ेद करने की पड़ी थी इधर साहब को सुफ़ेद को स्याह। पर बिचारे के हाथ में पैसे थे नहीं। सिगरेट के लिए जो रक़म वह देती है उसे खर्च कर डाला था, अब कैसे क्या हो? मेम साहबा तो मीनी को रुपये थमा ड्रेसिंग-रूम में जाने क्या लिये व्यस्त थीं; इधर बाप ने चटपट अपनी फरमाइश जता दी—किसी पाकिटमार ने रुपये जेब से उड़ा लिये, यही क़िस्सा खड़ा कर बीवी की झिड़कियों से पनाह देखी। मगर वह एक चंट, चट भाँप गई कि उसकी आँख में धूल डालने की बन्दिश है। बच्ची सकार देती तो भंडा फूटकर रहता और साहब की मरम्मत धरी थी। मगर बाप की आँखों की तरस देख वह चुप्पी साध गई। सच बोलती तो बाप के सर बला आती और झूठ बोलते बना नहीं। वह कलमुँही यों जामे से बाहर आकर हाथ छोड़ बैठेगी, ऐसा सपने में भी किसी को गुमान होता, तो शायद मेजर साहब भी अपनी आँख की पुतली को ऐसे शिकंजे में नहीं डालते। और यह ज़ुल्म! गऊ-सी बे-ज़बान एक भोली-भाली बच्ची के साथ! कभी जो वह

किसी के साथ पल-भर भी उलझी हो, सर ओढ़ गुपचुप सब-कुछ सुन लेती है, सब-कुछ सह लेती है—दिल में दर्द का एक दरिया दून पर है, पर आँखों के कोये में आँसू की दो बूँद तक नहीं, न ज़बान की कोर पर किसी माँग के दो शब्द। एक बड़ी बहन थी जो उसके दिल के दर्द को टटोल पाती; पर कोई दो साल होने को आये, बाप के घर से सरोकार ही तर्क कर लिया है जैसे। साहब को तो नई बीवी के तलवे सहलाने से फ़ुर्सत ही नहीं है कभी। उधर मेम साहबा के घर की दुनिया और है, दिल की दुनिया और। हाथी के दाँत—दिखाने को और, खाने को और।"

और फिर हम सोच में डूब जाते हैं कि क्यों छलनामय है यह जीवन! अपने प्रिय के साथ का भी आज सत्य का व्यवहार नहीं! और सत्य ही नहीं, तो प्रेम भी कैसा?। बस, ढंग चाहिये रंग चाहिये, हुआ करे अन्तरंग कुत्सित। हम वैसे हों या न हों, पर दिखते रहें सुघर; न सही सचाई या सफाई पर खुशनुमाई ज़रूरी है। स्वांग दुरुस्त रहे, सार न भी हो तो कोई मुज़ायक़ा नहीं। बस, फैशन पहले है, आचरण पीछे। हम जो कुछ भी सोचें, जो कुछ भी चाहें या जो कुछ भी करें—बस, एक तर्ज़ चाहिये, एक तमीज़। हम क्या करते हैं—बहस नहीं; उसे कैसे करते हैं, यही मुख्य है। जभी तो एक नुमाइशी शिष्टता की पालिश पाकर हमारी कुटिलता भी दे रही है मूछों पर ताव!

आज घर के बाहर तो हम बनते ही हैं, घर के अन्दर भी पैंतरे ही पर हैं निरन्तर। हम चेहरे पर ही रंग नहीं भरते, क्या बर्ताव, क्या व्यवहार और क्या संलाप—हर क्षेत्र में एक रंगसाज़ी है, एक गुलकारी। हम खुद तो किसी पर खुलने से रहे, बस खुल खेलती है यह व्यभिचारिणी बुद्धि!

और, यह वाणी ही नहीं, हमारी लेखनी भी आज आत्म-प्रकाश के बदले, शब्द और शैली के रसावेश के तले, अपने प्रकृत उद्देश्य पर परदा डालने की कला को ही अपनाये जा रही है निरन्तर।

"उड़ गई यों वफ़ा ज़माने से
कभी गोया किसी में थी ही नहीं।"

आखिर हो तो क्या हो, जो इस शरीर में चन्द दिन टिकने आया है वह इस शरीर का ही होकर रह गया; और जो इस संसार में चन्द दिन भरमने आया वह इस संसार को ही सर्वस्व मान बैठा। जब इस असत्य-अनित्य पर ही हमारे जीवन की भित्ति है, तो फिर यहाँ के बेल-बूटे छलना के छींटे बन गये तो अचरज क्या?

कोई चार दिन बाद साहब से जब आँखें चार हुई तो वे झेंपते हुए बोले—"क्या बताऊँ, टेढ़े हैं हमारे दिन आजकल। वह जो हमारी घर में हैं न...कुछ अजीब-सी हो रही हैं जब-तब...वह तड़प-झड़प, वह चीख, वह बात-बात पर उखड़

पड़ना कि बस यह लहू का उबाल है उबाल दिमाग़ के दायरे में। तुम से परदा क्या? यह एक वैसा मर्ज़ है… ज़रा टेढा…कब क्या हो जाय, कौन कहे। डाक्टरों ने एक अजीब-सा नाम दे रखा है, याद नहीं! कहीं दिमाग़ कुछ और गर्म हो उठा तो फिर, तुमसे परदा क्या, किसी ढब से थोड़ा लहू निकाल देनी ज़रूरी हो रहेगा।"

"हाँ, साहब, मुझसे अब परदा क्या? आप उसके मिज़ाज को कोई मर्ज़ क़रार देकर लाख परदा देते रहें, मर्ज़ी आप की। हमसे परदा रखने से आप का परदा निभे तब न—आर वह जो रहने दे जैसी बेपर्द हो चली है वह।"

और साहब खुलें या न खुलें, मीनी की बड़ी-बड़ी खुली आँखें तो उस दिन से परदा नहीं रख पाती हैं मुझसे—पहले जितनी ही दूर थीं उतनी ही अब परायेपन की जगह पारिवारिक आत्मीयता ले चुकी हैं जैसे। जब देखो तब आँखों में प्राण भर हेर रही है मुझको—कुछ कह रही है, कुछ पूछ रही है, कुछ चाह भी रही है, जब-तब। हाय री नज़रों की बेज़बानी! वाणी वैसी मर्मस्पर्शी—दस! भावमयी क्या होगी! आज जाने कितने साल आये और गये, पर वैसी बोलती दिल-टटोलती आवेशमयी आँखें फिर इन आँखों के सामने कभी नहीं आईं। यही आँखें पहले मुँह मोड़ फटकी चलती थीं हमसे। सामने पड़ गईं भी, तो जैसे कभी की देखी-सुनी नहीं। और आज? कितनी ममता है उनकी मुझमें—कितनी सरलता है उनकी मुझसे! करती क्या बिचारी, कोई तो रहा नहीं उसका अपना, जिसे वह दिल चीर दिखा सके अपने अन्दर की जलन। न वह पहले की माँ है, न वह अगला-सा बाप! कहाँ इस सिन में लाड़-प्यार पाती, कहाँ पा रही है फिटकार!

डूबते को तिनके का सहारा, नहीं तो कहाँ वह और कहाँ मैं? और उसकी दिल की आँखों में हम जैसे भी उठ आये हों, मेरे साथ तो कोई वैसी गहराई नहीं थी—एक कुतूहल, एक तरस या मारे-पीटे सौजन्य।

गोरे साहबों को उन दिनों हम क्या-क्या नहीं समझ बैठे थे, मगर जब निकट आकर आमने-सामने देखा, तो पाया कि दूर का ढोल सुहावना है बस। और वह बिचारी बच्ची, वह विलायती सोने की पुतली ही क्यों न हो, उसकी मति गति वही है जो वैसी परिस्थिति में हर-किसी की होगी—क्या काली, क्या गोरी। आदमी का रंग-ढंग बदलता है, उसके सुख-दुख की भित्ति नहीं बदलती।

तो उसकी आँखें ढूँढती रहती हैं मुझको निरन्तर और सुनाये जा रही हैं आप-बीती। क्या कालेज जाते, क्या लौटते, क्या छत पर टहलते—जब देखो तब, किवाड़ का पल्ला थामे, काठ की मूरत-सी, एक टक हेरती खड़ी है आँखों में दर्द की एक दुनिया

बसाये। भगवान ने उसे वाणी वैसी नहीं दी जैसी अनुभूति आंखों की राह अपने प्रच्छन्न आन्तरिक भावों को उतार देने की जैसी सत्ता-कला दी, वैसी अभिव्यंजना की कला तो हजार में एक को नसीब होगी शायद। आखिर हर व्यक्ति की अपनी एक निराली अभिव्यक्ति है। उसकी भाव-भरी दृष्टि ही उन दिनों उसकी आत्माभिव्यक्ति रही।

पहले तो न वह खुद देखती रही, न दिखाई देती रही। मगर अब वह दिखे या न दिखे, पर देखती रहती है बराबर। ठहरी वह अभी निरी बच्ची, कोई वैसी कामना तो झांकने से रही। फिर यह आंखों का अर्घ्य कैसा? क्या चाह रही है वह? क्या ढूँढ़ रही है वह?

कुछ दिनों तक तो उन आंखों की भाषा मुझपर खुलती न थी; पर देखते-सुनते वह पल भी आया जब वह साफ खुल गई मेरे सामने। किसी को कानों-कान ख़बर तक नहीं, इधर आंखों-आंखों में खबर आ गई कि आज क्या बीती मीनी के सर पर। बिचारी ने दिन-भर कुछ खाया नहीं तो आंखों में जैसे भूख की ज्वाला है, झिड़कियाँ खाई हैं तो वेदना और छड़ियाँ खाई हैं तो स्नेह की याचना भी साफ़ है। उन आँखों में चुहलें न थी, न मचलें—आंसुओं के तरारे भी नहीं दिखे, न इशारे; बस एक जिज्ञासा थी—एक वेदना, जिसे जब मैंने पहचाना तब भूल गया कि वह एक विलायती मिस है और मैं हिन्दुस्तानी। हुआ करें हमारे जीवन की दिशायें भिन्न—इन आँखों का आलिंगन तो अभिन्न है आज।

और बस कुतूहल के साथ-साथ एक दर्द भी उठता गया दिल के पहलू में। मेरा सिन ही क्या था उस वक्त कि मैं वैसी उलझन की तह तक उतरता, पर उसकी आँखों की मूक पुकार पर जो कुछ बन पाता उस पल, उसे जैसे-तैसे कर गुज़रता, हो जो हो। मगर हां कर ही क्या पाता मैं उस पल-भर के आवेश में। बस पाकिट से चन्द लेमनजूस, चाकलेट या फल निकाल उछाल देता उसकी ओर और वह टप-से थाम लेती - हाथों में गुपचुप। होठों के किनारे एक रेखा-सी खिंच आती और खिल उठतीं उसकी आंखें—वह चट छिपा लेती अपनी फ्राक की तह में।

हमेशा हमें वर्त्तमान की ही व्यवस्था करनी होती है। भविष्य को पहले से नहीं देखा जा सकता बल्कि उसे आने देना होता है।

—संत एक्जुपरी

कामना और प्रेरणा

श्रीप्रभात

कामना रूप - मंदिर में बैठी
अति गंभीर
पी रही हृदय की तरल-गरल
अव्यक्त पीर
निष्पलक नेत्र, निष्पन्द अधर
विष्पन्द गगन
कंपित श्वासें ऊर्म्मिल अधीर
मन-सिन्धु गहन
कामना रूप - मंदिर में बैठी
प्रलय-मूक
प्राणों की कोयल भूली कैसे
कलित कूक
कामना पूछती अपने परिचय
को पुकार
क्यों आज रूप के बिखरे हैं
सारे सिंगार
सौन्दर्य मूक क्यों वीणा के ज्यों
छिन्न तार
विच्छिन्न पड़ा भू पर उदास
कल्पना-हार
उल्लास कहाँ किस कारागृह में
हुआ बन्द
तिरते न आज क्यों श्वास-लहर पर
सुरभि-छंद

लेखनी! न तुमने पहचाना
वह वहाँ कौन
क्यों भ्रम में पड़ती, वह न कामना-
कली मौन
कामना मिट चुकी, वह तो है
प्रेरणा-स्फूर्ति
चिनगारी - सी ज्वाला - प्रदीप्त
चेतना-मूर्ति
प्रेरणा चेतना के हिय की
धड़कन, उभार
चेतना, प्रेरणा के पथ की
पहली पुकार
चेतना तार स्वर से विभोर
प्रेरणा बीन
प्रेरणा पर्व, चेतना भूमि का
नव-नवीन
दोनों ने मिलकर ली समेट जब
मोह-निशा
कामना मिटी, जी उठी कामना
नई दिशा
पा नई आग, संदीप्ति नई
नूतन प्रकाश
नूतन पृथ्वी - आकाश अश्रु नव
नया हास

[महाकाव्य 'कैकेयी' से

गीत

श्री रुद्र

तुम्ही तुम हो, तुम्ही तुम हो, जिधर भी देखता हूँ मैं।
भरण भू-भावनावाले तपे त्यागी तरल उत्पल
उमड़ते आ रहे बादल, नयन-सम्बल, हृदय के बल;
बरुण-बरदान बन भू के नये पर आ रहे हैं अब,
नयन के हंस सूने में बिहर घर आ रहे हैं अब —
धरा की प्यास धारा में बदलती देखता हूँ मैं।
नई धारा हिलोरों में, लहरियों में नयापन है;
नई बालू, किनारे की लकीरों में नयापन है;
नये नभ की तितलियों की पुतलियों में नयापन है;
सुरीली शिंजिनी वाली बयारों में नयापन है;
नई दिन-दिन तुम्हारी याद होती देखता हूँ मैं।

सत्य

श्री प्रभाकर माचवे

तुमने कभी सत्य पहिचाना?
मैंने उसे नित्य जीवन में जाना।
नानात्त्व लिये यह जो जीवन्मृत प्राणी
हैं सजा रहे निज इच्छाओं को जैसे एक किरानी
उनकी दर गिरते और उतरते देखी
देखी पापी की नय, नेकी की शेखी
देखे हैं मैंने पुजते रे, अविवेकी
औ' संतों को ठुकराना।
तुमने कभी सत्य पहिचाना··

सत्य क्या बंद है धर्म-मन्दिर आँखों में ?
सत्य क्या छिपा रह सकता है लाखों में ?
सत्य तो बँट गया आज कई फाँकों में
सत्य की बहुत ही करुण दुरन्त कहानी
सत्य के नाम पर हुई बहुत मनमानी
अब तो है उसका नाम निरा इक ताना
सत्य है झूठ का बाना
तुमने कभी सत्य पहिचाना

गीत

सुश्री इंदुबाला देवी

किसकी वंशी का मादक स्वर
तम की लहरी को चीर-चीर
नीलम के नभ में टकराता
प्रतिध्वनि कर जाता है अधीर
मुसकिरा नखत रजनी-आंचल से बिखराता मोती भर-भर

किसकी वंशी का मादक स्वर
पीड़ा के मधुमय सपनों में
सोती बेसुध हो अभिलाषा
तब युग की सुधि के पुलकों में
मलयानिल अरमानों का मेरे जग में आता सिहर-सिहर

किसकी वंशी का मादक स्वर
तम-छाया मुख ले लौट चली
अरुणा के भींगे पट लहरा—
जब तुहिन कणों की गली-गली
तब अश्रु-गीत गा उठा मधुर प्रिय हरसिंगार का वन झर-झर

किसकी वंशी का मादक स्वर
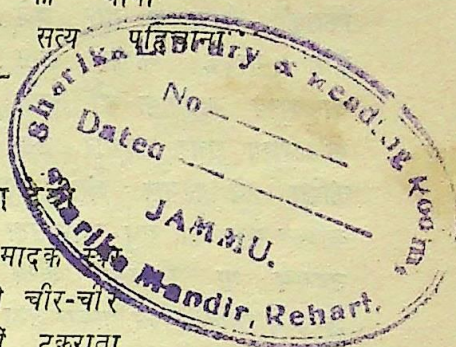
इकाई

श्री 'सुदेव'

मैं एक इकाई जीवन की,
मुझमें युग भर का प्रतिस्पन्दन।
मैं जग का अभिवादन करता,
जग करता मेरा अभिनन्दन।
किसकी वीणा के तार बजे?
कैसा मादक झंकार उठा?
था शून्य चतुर्दिक ही छाया,
ले शून्य मधुर उद्‌गार उठा।
कंपित थे कोमल तंतु उधर
कम्पित स्वर का मधु ज्वार उठा;
उद्‌गम था जिसका शून्य,
शून्य में मिल बनकर साकार उठा।
आश्चर्य कि सागर भी गागर—
के बीच समाकर बन्द हुआ!
निःसीम गगन का व्याप्त सुखद—
संगीत बँधा कुछ छन्द हुआ।
मैं बन्द सलिल सागर का हूँ,
अस्तित्व एक मेरा बंधन।
मैं एक मधुर उच्छ्वास—
वीणा के तारों का मादक कंपन।

२

मिट्टी का छोटा सा पुतला,
धरती पर अलख जगाता है।
बित्ते भर भू पर चंगुल रख—
वह विश्वम्भर बन जाता है।
ये सब—रवि, शशि, नक्षत्र,
ग्रहादिक घूम रहे हैं इंगित पर;
मैं महावृत्त का एक केन्द्र,
द्यावा-पृथिवी का एकान्तर।
है क्षितिज चतुर्दिक परिधि,
वृत्त में व्याप्त अखिल सब नग-निर्झर।
मैं हूँ, मेरे बन विलस रहे—
जग, वन, उपवन, भूधर, सागर।
यह बिन्दु सिन्धु का भेद वेद
बन नेति नेति करते वंदन।
मेरा अपना है विश्व, विश्व
का मैं पूजक, अक्षत, चंदन।

३

यह सृष्टि दृष्टि के सम्मुख जो,
जीवन का रस बरसाता है।
उल्लसित प्रकृति का चिद्विलास--
बन मेरा मन बहलाता है।
यह हास्य रुदन, यह प्रेम प्रणय;
जग के दुख सुख का संवेदन;
सागर की लोल लहरियाँ हैं,
यह महाक्रांति, प्रत्यावर्त्तन।
मैं दूर धरा से ऊपर उठ,
जग कोलाहल लख पाता हूँ।
अपनी क्रीड़ा के कन्दुक पर
बन मायामय, मुसकाता हूँ।
भव भीति, मृत्यु, जग जीवन का—
भ्रम है, करता मैं मधुवर्षन।
यह सृष्टि-नटी मुसकाती सी
करती रहती मादक नर्त्तन।

रूठे बादल

श्री शिवमूर्त्ति शिव

आया वसन्त भी नहीं
और ये बादल रूठ गये

कवि ने रुक रुक बहुत मनाया
कविता ने आवाज लगाई
सुषमा भी समझाकर हारी
मौन उतर अम्बर से आई
छन्दों ने शत-शत मनुहारें
भावों ने लाखों ललकारें
नभ को पहुँचाने को दे दीं
ध्वनि उठ-उठकर सहज समाई
मन में, वन में, औ' खेतों में
आया उफान भी नहीं
और ये चंचल रूठ गये

रवि-किरणों ने रूप निखारे
कुंकुम-कंचन रंग सँवारे
ठंडे-ठंडे आकर्षण से
झोंको ने घन की गति छीनी
मन में, वन में औ' खेतों में
आया सरूर भी नहीं
और ये पागल रूठ गये

चुन-चुन पात सजाये श्री ने
गन्ध छिड़क कर भीनी भीनी
धरती ने सौ स्वप्न बिछाये
स्वप्नों में भर-भर रंगीनी

मटमैली संध्या की लहरें
दर्पण-जैसी नभ पर छाईं
ओसकणों के उठे धुएँ में
दिन की किरणें बुझने आईं
छिड़क गये हैं सिन्दुर तारे
भोले-भोले, प्यारे-प्यारे
पूरब में सौ-सौ सुन्दरियाँ
तम के अंकों में मुस्काईं
मन में, वन में औ' खेतों में

आया बिहान भी नहीं
और ये बादल रूठ गये

गीत

श्री रमण

साधना में फूल है प्रिय—
आग भी, अंगार भी!
प्राण, जो शाश्वत उदासी,
ज्ञान, जो चिर-शक्ति है!
चेतना जो उर्वरी—
आराधना चिर-भक्ति है;
दृष्टि से ममता हटाकर
दूर, यदि चिंतन हुआ,
साधना में धूल है प्रिय—
सृष्टि भी, संसार भी!
आग भी, अंगार भी!!
नाव डगमग हो, कठिन हो
वेग भी यदि धार का;
जो न हो विश्वास माँझी
टूटते पतवार का!

विश्व का बस एक ही है
मंत्र, वह भी मूल है—
साधना में कूल है प्रिय,
प्रेम भी, मृदु प्यार भी!
आग भी, अंगार भी!'
जीत, निर्वापित अलौकिक
दीप की छाया रही है!
चन्द्रमा के स्नेह की यह—
ज्योत्स्ना काया रही है!
सूर्य्य की पहली किरण से,
इसलिए वह भाग जाती—
साधना में त्याज्य है,
प्रतिमान भी, प्रतिकार भी!
साधना में फूल है प्रिय—
आग भी, अंगार भी!!

तो

श्री किरण

प्रिय, तुम धीमे मुसकाती तो—
जाने कितनी आशाओं की मृदु पंखुड़ियाँ गदरा जातीं;
अन्तर के सागर से लहरों की प्रतिध्वनियाँ टकरा पातीं,
कितना अच्छा होता चुपके सपनों का चाँद खिलाती तो,
प्रिय, तुम धीमे मुसकाती तो—
विस्तृत अम्बर की लाली जो प्रतिक्षण गहरी होती रहती,

छितराई अलकों में तन्द्रिल इच्छा खुलती खोती रहती,
तारों के शोलों को गीले दामन से यदि सहलाती तो!
प्रिय, तुम धीमे मुसकाती तो—
सपनों की सिहरन नयनों में मादक चमकन बन हिलती है,
गीली पलकों की अलसाहट तो धीरे-धीरे खिलती है—
व्याकुल नभ की परछाईं जो इन आँखों में भर लाती तो!
प्रिय, तुम धीमे मुसकाती तो—

फिर घिर आये मेघ!

श्री मदनलाल नकफोफा

फिर घिर आये मेघ गगन में, फिर भर आये हैं ये लोचन।
उमड़ी घटा गगन में देखो,
जग का घर-आँगन भर आया,
खिले धरा पर फूल, देखकर
ऊपर वह अंबर मुस्काया,
एक बूँद के लिये किन्तु यह रहा सदा ही प्यासा जीवन।
आशा और निराशा में ही,
थक जाते ये प्राण हार कर,
पर न पिघलता पत्थर का दिल,
मौन हृदय की इस पुकार पर
मन की व्यथा फूट पड़ती है आकुल स्वर में भरकर कंपन।
साहस टूट गया है मन का,
अब न रहा बल इन पाँखों में,
किन्तु बनी है प्यास अभी तक,
अश्रु भरी मेरी आँखों में,
भूल गया अपनापन अपना किन्तु तुम्हें कब भूला है मन!

अद्वेय

श्री कृष्णकुमार विद्यार्थी

उपहार तुम्हें क्या दूँ मैं!

फूलों की पंखुड़ियों में
तुम सुषमा बन मुस्काते
ऊषा की अँगड़ाई में
लज्जा बन कर छा जाते।

रक्ताभ-क्षितिज में रँगते
किरणों से शत घन-माला
फेनिल आसव से भरकर,
छलकाते अम्बुधि-प्याला।

सौन्दर्य्य देव! फिर बोलो,
अपने अस्फुट भावों से
निर्मित गीतों की छवि का
शृंगार, तुम्हें क्या दूँ मैं?

रच निखिल विश्व में रवि-शशि
ग्रह तारों की चल माया,
ब्रह्माण्ड, स्यात जो तेरी
लीला की खंडित छाया।

कर में ले शक्ति सृजन की
पैरों में ताण्डव का लय,
यह आँखमिचौनी चिर से
तुम खेल रहे करुणामय।

हे सृष्टि-नियंता बोलो!
लघु सुख-दुख से ही निर्मित
जड़ चेतनमय यह मन का
संसार, तुम्हें क्या दूँ मैं?

बन मूक दृगों की भाषा
यौवन मदिरा की लाली
चित्रित सपनों में आकर
छलका भावों की प्याली

दृग-जल बन, फिर सुधि में पल
हिम-सा क्रमशः गल जाता
चांदनी चली जाती जब
शबनम बन कर ढल जाता।

हे सत्य, चिरन्तन, शाश्वत,
पार्थिव तन के लघु मन का
क्षण - क्षण परिवर्त्तनशाली
वह प्यार तुम्हें क्या दूँ मैं!
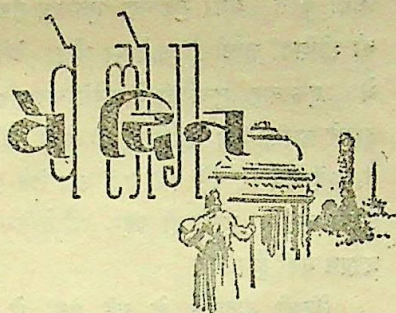
कलकत्ता-प्रवास के संस्मरण

श्री शिवपूजन सहाय

[२]

बालकृष्ण प्रेस में सेठजी और मुन्शीजी के पास कुछ साहित्यिक सज्जन बराबर आया करते थे, जिनमें मुख्य थे—पंडित ईश्वरी प्रसाद शर्मा, पंडित चन्द्रशेखर पाठक, पंडित राम गोविन्द त्रिवेदी वेदान्त-शास्त्री, बाबू बलदेव प्रसाद खरे और बाबू कनका प्रसाद चौधरी। चौधरीजी साहित्य-सेवी नहीं थे, पर साहित्यानुरागी और सत्संगी बड़े पक्के थे। इनका कहना था कि बँगला और हिन्दी का कोई ऐसा पुराना या नया उपन्यास अथवा कहानी-संग्रह नहीं है जिसको इन्होंने न पढ़ा हो। इनकी कहानियों का एक संग्रह मुन्शीजी ने प्रकाशित कराया था, जिसका नाम इस समय याद नहीं। उसकी पाण्डुलिपि मुन्शीजी ने शोधी थी। बँगला और हिन्दी के कथा-साहित्य को इनसे हजारों रुपये मिले होंगे। ऐसे धनी आज भी कुछ होंगे ही!

शर्माजी बाबू रामलाल वर्मा के यहाँ पूरी स्वतंत्रता के साथ नौकरी करते थे। उनको वर्माजी नौकर नहीं, साहित्यक मित्र समझते थे, अपने सगे छोटे भाई मुकुन्द लालजी से भी अधिक प्यार करते थे। वैसा बन्धुत्व व्यावसायिक सम्बन्ध में कहीं न देखा। शर्माजी परम स्वच्छन्द और स्वाभिमानी व्यक्ति थे। उनका झुँझलाना-तिनकना और वर्माजी का बड़ी मिठास से उनको मनाना मैंने देखा था। वर्माजी बड़े हँसमुख, मिलनसार और मिठबोलिया थे। साहित्यिकों की बड़ी कद्र करते थे। जैसा उनका रूप सुन्दर था वैसा ही हृदय भी। उस समय के कलकतिया पुस्तक प्रकाशकों में उनके समान साहसी और उदारचेता दूसरा न था। उनके यहाँ शर्माजी के सिवा पंडित कार्तिकेयचरण मुखोपाध्याय और पंडित नरोत्तम व्यास भी साहित्य-रचना करते थे। उपर्युक्त त्रिवेदीजी और मुन्शीजी भी उनके लिए पुस्तकें लिखा करते थे, जिन्हें वे बड़ी सजधज से प्रकाशित करते थे। पुस्तकों की शुद्ध छपाई और बाहरी-भीतरी सजावट का उन्हें बड़ा शौक था। पुस्तकों के अलंकार-शृङ्गार में वे काफी पैसे

खर्च करते थे। साहित्यिकों को पुरस्कार से अधिक अपनी मृदु-मञ्जु-मधुर वाणी से ही तृप्त किया करते थे। पैसे के लिए साहित्यिक को असन्तुष्ट होने देना उन्हें पसन्द न था। चिरौरी करके कुछ कम भले ही दें, पर तिरस्कार किसी का कभी न किया। त्रिवेदी जी से उन्होंने विष्णुपुराण का गद्यानुवाद कराया। उसके पारिश्रमिक, मुद्रण, चित्रा-लंकरणादि में लग-भग दस हजार रुपये उस समय खर्च हुए थे। ग्रन्थ पूरा छपकर तैयार हो गया था। त्रिवेदीजी ने बहुत दिनों तक घोर परिश्रम किया था। किन्तु वह ग्रन्थ अप्रकाशित ही रह गया। त्रिवेदीजी के अनवरत अनुशीलन और वर्माजी की द्रव्य-राशि से हिन्दी-साहित्य को जो लाभ पहुँचता उससे वह वंचित रह गया। वह हजार पन्ने की पोथी नियति-चक्र में पिस गई!

शर्माजी की आदत थी कि प्रेस में पहुँचते ही मुन्शीजी और सेठजी से पान और रसगुल्ले की फर्माइश कर देते थे। उनके आ जाने पर कोई काम नहीं किया जा सकता था, काम करने ही न देते थे। ठहरते तो थे कुछ ही देर, मगर उतने ही समय में कागज-कलम-दावात-किताब इधर-उधर रख देते थे। बस गप-शप और हँसी ठहाके के लिए ही वे आ जाते थे। उनकी सूरत देखते ही सेठजी हँसकर कहते—बस, अब काम हो चुका! मुन्शीजी से वे बराबर सुगन्धित तेल और साबुन मुफ्त वसूल किया करते। मगर सुप्रसिद्ध 'भूतनाथ तेल' की शीशियाँ खाली हो जाने पर लौटा देते थे। एक बार मुन्शीजी ने उनसे कहा कि हमारे कारखाने में शीशियों की कमी नहीं है, इन्हें बेचकर पैसे क्यों नहीं उठा लेते? इसपर उन्होंने छूटते ही कहा, 'मैं तेलिया ब्राह्मण नहीं हूँ!'

सेठजी इतिहास के बड़े प्रेमी थे। इतिहास का जो कोई नया ग्रन्थ निगाह में आ जाता, झट खरीद लेते। अँगरेजी बुक-सेलरों के यहाँ उनका स्थायी आर्डर पड़ा रहता था; नया ग्रन्थ बाजार में आते ही उन्हें सूचना मिल जाती थी। उनका इति-हास-सम्बन्धी ज्ञान भी बहुत गंभीर था। उन्होंने एक इतिहास-ग्रन्थ लिखना शुरू किया था। परन्तु दो-चार ही परिच्छेद छेड़कर रह गये। प्रेस के काम में खटते खूब थे, मगर लिखने में आलसी थे। स्वाध्याय मात्र उनका व्यसन था। इतिहास पर बातें करने लगते थे तो बड़ा आनन्द आता था। उनके लिखे अध्यायों को मैंने देखा था। स्वामी भवानीदयाल संन्यासी ने दक्षिण अफ्रिका से अपनी लिखी एक ऐति-हासिक पुस्तक मेरे देखने के लिए भेजी थी। वह सन् सत्तावन के गदर पर थी। उसे अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर उन्होंने लिखा था। उसमें बड़े मार्के के उद्धरण भी थे। सेठजी ने उसको देखकर कहा कि इसमें बहुत-सी असंगतियाँ और असम्बद्ध बातें हैं। कई स्थलों की त्रुटियों

का उन्होंने सुधार करा दिया। स्वामीजी जब एक शिष्टमण्डल में भारत आये तब उन्होंने कलकत्ता पहुँच सेठजी के सत्परामर्श के लिए बड़ा आभार और उपकार माना।

शर्मा जी और पाठक जी प्रायः सेठ जी से अँगरेजी के इतिहासग्रन्थ पढ़ने के लिए ले जाया करते थे। पाठक जी से चौगुनी अधिक पुस्तकें शर्मा जी पढ़ जाते थे। जैसे वे लिखने में तेज थे वैसे पढ़ने में भी। न जाने कैसे, कोई किताब देखते-देखते पढ़कर समाप्त कर देते थे। उनके एक मारवाड़ी मित्र बाबू महादेव प्रसाद झुनझुनूवाला थे। इनकी पुस्तकों की एक दूकान बड़तल्ला मुहल्ले में थी—भारत-पुस्तक-भण्डार। शर्माजी की बैठकबाजी यहाँ भी हुआ करती थी। कलकत्ता में इनके कई साहित्यिक अड्डे थे। उक्त दूकान से भी वे पढ़ने के लिए नई-नई पुस्तकें ले जाते थे। मुन्शीजी मजाक में उन्हें 'दीमकदास' कहते थे; क्योंकि वे चाहें तो रातभर में बड़ी से बड़ी पुस्तक के भी आरपार हो जायँ। उनका दिमाग बिल्कुल पलीता था बारूद का, और लेखनी भी उन्होंने गणेश जी की पाई थीं। बेनीपुरीजी उन्हें 'मेरी कारेली' का 'थेल्मा' उपन्यास अनुवाद करने के लिए दे आये। पहले तो वे कुछ दिनों तक तकाजे कराते रहे, पर जब धुन सवार हुई तो चन्द दिनों में ही अनुवाद रगड़कर रख दिया। तारीफ यह कि कापी में कहींप कटकुट नहीं। मगर उनकी पढ़ाई और पाठकजी की पढ़ाई में अन्तर था। वे सिर्फ पढ़क्कू ही थे, पाठकजी बड़े संग्रही थे। ये खास-खास अवतरणों को नोट करते जाते थे। इनकी एक नोटबुक मुन्शीजी के पास मैंने देखी थी, जिसमें उपन्यास लिखने योग्य ऐतिहासिक घटनाओं के सुन्दर संकलन थे।

शर्माजी तो आरा-निवासी थे, पर पाठकजी बिहारशरीफ (जिला पटना) के मराठा ब्राह्मण थे। ये लाल रोली का ठीका लगाते थे और कपड़े-लत्ते के बड़े शौकीन थे। वाराणसी घोष स्ट्रीट में इनका अपना प्रकाशन-मंदिर था। मेरी लिखी 'भीष्म' और 'अर्जुन' की जीवनियाँ इन्होंने प्रकाशित की थीं। पं० मदनमोहन भट्ट और पं० केशवराम भट्ट के परिवार की बहुत-सी बातें कहानियों की तरह सुनाया करते थे। इनकी सचित्र जीवनी मैंने 'मारवाड़ी-सुधार' में प्रकाशित की थी। अब पछतावा होता है कि इनसे 'बिहारबन्धु' के भट्ट-परिवार का कुछ वृत्तान्त संग्रह न कर सका। कलकत्ता के पुराने पत्रकारों के सम्बन्ध में भी अनेक रोचक प्रसंग सुनाते थे। इत्रों की परख में ये बड़े दक्ष थे। देशी इत्रों का ही व्यवहार किया करते थे। उस्ताद गन्धी भी इनकी खरी पहचान से चकित हो जाते थे। शर्माजी को सिर्फ खाने का शौक था, इनको खाने और खिलाने दोनों का। मुन्शीजी इनको 'भोजनविलासी' दवी दिये हुए थे। इनके घर में खाने-

पीने की निहायत नफीस चीजें बनती थीं। पत्थर की छोटी-बड़ी रंग-बिरंग सुन्दर प्यालियाँ इनके यहाँ कितनी थीं, इसका कोई अन्दाज नहीं मिलता था। थाली में सभी चीजें प्यालियों में ही आती थीं। चटनी की सब से छोटी प्याली अजीब खूबसूरत थी। फूल के एक से एक सुन्दर बर्तन इनके घर में थे। हर साल धनतेरस के दिन अच्छे-से-अच्छे चुनिन्दा बर्तन खरीदते थे। बाजार में कपड़े खरीदने निकलते थे तो कलकत्ता-जैसे शहर में भी सहसा कोई कपड़ा इन्हें जँचता न था। एक बार इनकी बिछावन की चादर देखकर सेठजी ने कहा था कि आपके घर में तो डाका डालने को इच्छा होती है। इन्होंने तुरत चादर उन्हें भेंट कर दी। सेठजी के लाख आग्रह पर भी दाम न लिया। इसपर शर्माजी बड़े जोर से अपना गंजा सिर खुजाने लगे। उह-आह भी करने लगे। पाठकजी ताड़ गये। शर्माजी को बहुत ही सुन्दर एक रूमाल नजर कर दिया।

त्रिवेदी शास्त्रीजी पहले तो लेखक बन कर कलकत्ता आये, पीछे प्रकाशक भी बन गये। उन्होंने भारती प्रेस खोलकर कई अच्छी पुस्तकें निकाली थीं। पंडित मथुराप्रसाद दीक्षित का लिखा 'बाबू कुँवर सिंह' का जीवनचरित बड़ी शान से निकला। यह पुस्तक बड़ी खोज से लिखी गई। इम्पीरियल लाइब्रेरी और कुँवर सिंह की राजधानी (जगदीशपुर) तक दौड़ लगाई गई। पूज्य राजेन्द्र बाबू ने भूमिका लिखी। मैंने परिशिष्ट में परम्परागत किंवदन्तियों का संचय किया। मेरी भी एक पुस्तक शास्त्रीजी ने छापी। कहानियों का संग्रह 'महिला-महत्त्व' नाम से निकला, जो अब 'विभूति' नाम से प्रचलित है। मुन्शीजी का मौलिक उपन्यास 'शान्तिनिकेतन' भी वहीं से प्रकाशित हुआ। शास्त्रीजी ने भविष्य के लिए बड़ी बड़ी साहित्यिक योजनाएँ बनाई थीं। उनका प्रकाशन-व्यवसाय भी लाभप्रद रीति से चल निकला था। किन्तु वे स्वयं केवल साहित्यिक ही थे, व्यवसायबुद्धि का अभाव था। उनकी दरियादिली ही रोजगार के लिए घातक हुई। पनपते या जमते हुए व्यापार के लिए शाहखर्ची ही खतरे की घंटी है। सेठजी और मुन्शीजी ने उनको कई बार नेक सलाह दी। पर वे अपने उदार विचार से लाचार थे। अन्त में पता लगा कि विशुद्ध लाभदर्शी लोगों ने उनके साहित्यिक सपनों को सफल न होने दिया। कई साल बाद बिहार की 'गंगा' पत्रिका में फिर मेरा-उनका साथ हुआ।

बाबू बलदेव प्रसाद खरे बड़े रंगी जीव थे। कलकत्ता छोड़ने के बाद मैं फिर कभी उनसे मिल न सका। जहाँ तक याद है, एक बार शायद काशी में वे मिले थे। वे बड़े कुशल अभिनेता थे। कलकत्ता के कई प्रकाशकों ने उनके लिखे पौराणिक और सामाजिक नाटक प्रकाशित किये थे। उन दिनों कलकत्ता में कई हिन्दी-

नाटकों के अभिनय प्रायः हुआ करते थे। हिन्दी-नाट्य-समिति के संचालक पूर्वोक्त बाबू रामलाल वर्मा थे। हिन्दी-नाट्य-परिषद् के प्राण थे पंडित माधव शुक्र, जो हिन्दी के अत्युच्च कोटि के अभिनेता थे। इन संस्थाओं में आपसी होड़ भी खूब थी; पर उसमें द्वेष का लेश न था, केवल कलाप्रदर्शन की ही स्पर्द्धा थी। कई युवकों की अभिनय-कला पुरस्कृत हुई थी। ऐसे युवकों में केवल 'केशव' का नाम याद है। स्त्री का स्वांग उसका सदा सफल रहा। काशी के यशस्वी अभिनेता बाबू केशव प्रसाद टण्डन भी उस समय कलकत्ता के हिन्दी-रंगमंच का गौरव बढ़ा रहे थे। जहाँ तक याद है, वे शाहजहाँ, औरंगजेब और चाणक्य की भूमिका में बहुत सफल हुए थे। मैंने काशी में भी उनका अभिनय देखा। शुक्रजी के नाट्यकौशल का तो कहना ही क्या! वे अपने समय में हिन्दी-रंगमंच के सिंह थे।

खरे जी प्रायः प्रहसनों में ही अभिनय किया करते थे। एक बार उन्होंने स्त्री का स्वांग धारण किया। सेठजी शाम की बूटी जम जाने पर कहीं बाहर नहीं जाते थे। खरे जी के विशेष आग्रह पर उन्हें नाटक देखने जाना पड़ा। किन्तु भंग की तरंग में नाट्य-शाला में ही ऐसी हँसी उभड़ी कि मुन्शीजी उन्हें नशे की दशा में अकेला न छोड़ सके, प्रेस तक साथ गये। हँसी उमड़ी खरेजी को नारी-वेश में देखते ही। प्रौढ़ावस्था में पुरुष-कण्ठ कर्कश हो ही जाता है। पुरुष अपनी उठती जवानी में ही स्त्री का पार्ट अच्छा कर सकता है। स्त्री का वेश रूपवान नवयुवक को ही फबता है। उपर्युक्त केशव की स्वर-माधुरी में रंचमात्र भी अस्वाभाविकता का आभास नहीं मिलता था। उन दिनों पारसी और बँगला थियेटरों में स्वयं स्त्रियाँ ही अभिनेत्री होती थीं, इसलिए लोगों के कान भी प्रौढ़ कण्ठ का स्वर सुनने को अभ्यस्त नहीं थे। खरे जी मंच पर ज्यों-ज्यों बोलते, सेठजी की हँसी का पारा चढ़ता जाता। मुन्शीजी को आखिर लाचार होकर उन्हें नाट्य मंदिर से बाहर ले जाकर प्रेस पहुँचाना पड़ा। खरे जी को यह बात मालूम न होने पाई, बल्कि दूसरे दिन प्रेस में उनके आने पर सेठजी ने उनके अभिनय की बड़ी प्रशंसा की, जिसे सुनकर मुन्शीजी की हँसी न रुकी तो वे अन्यत्र हट गये और मैं भी वहाँ से टल गया।

हिन्दी के नाटकों की उस समय बड़ी धूम थी। लोगों में अदम्य उत्साह था। अभिनय में काफी भीड़ होती थी। कितने ही नवयुवकों को नाट्यकला-निपुण देखकर आशा की जाती थी कि हिन्दी का रंगमंच कुछ दिनों में बहुत उन्नत हो जायगा। पारसी थियेटरों में भी हिन्दी के सुन्दर नाटकों के अभिनय होने लगे थे। इसकी चर्चा आगे होगी। बड़ा बाजार में नाटकों से काफी हलचल रहती थी। एक बार

पीने की निहायत नफीस चीजें बनती थीं। पत्थर की छोटी-बड़ी रंग-बिरंग सुन्दर प्यालियाँ इनके यहाँ कितनी थीं, इसका कोई अन्दाज नहीं मिलता था। थाली में सभी चीजें प्यालियों में ही आती थीं। चटनी की सब से छोटी प्याली अजीब खूबसूरत थी। फूल के एक से एक सुन्दर बर्तन इनके घर में थे। हर साल धनतेरस के दिन अच्छे-से-अच्छे चुनिन्दा बर्तन खरीदते थे। बाजार में कपड़े खरीदने निकलते थे तो कलकत्ता-जैसे शहर में भी सहसा कोई कपड़ा इन्हें जँचता न था। एक बार इनकी बिछावन की चादर देखकर सेठजी ने कहा था कि आपके घर में तो डाका डालने की इच्छा होती है। इन्होंने तुरत चादर उन्हें भेंट कर दी। सेठजी के लाख आग्रह पर भी दाम न लिया। इसपर शर्माजी बड़े जोर से अपना गंजा सिर खुजाने लगे। उह-आह भी करने लगे। पाठकजी ताड़ गये। शर्माजी को बहुत ही सुन्दर एक रूमाल नजर कर दिया।

त्रिवेदी शास्त्रीजी पहले तो लेखक बन कर कलकत्ता आये, पीछे प्रकाशक भी बन गये। उन्होंने भारती प्रेस खोलकर कई अच्छी पुस्तकें निकाली थीं। पंडित मथुराप्रसाद दीक्षित का लिखा 'बाबू कुँवर सिंह' का जीवनचरित बड़ी शान से निकला। यह पुस्तक बड़ी खोज से लिखी गई। इम्पीरियल लाइब्रेरी और कुँवर सिंह की राजधानी (जगदीशपुर) तक दौड़ लगाई गई। पूज्य राजेन्द्र बाबू ने भूमिका लिखी। मैंने परिशिष्ट में परम्परागत किंवदन्तियों का संचय किया। मेरी भी एक पुस्तक शास्त्रीजी ने छापी। कहानियों का संग्रह 'महिला-महत्त्व' नाम से निकला, जो अब 'विभूति' नाम से प्रचलित है। मुन्शीजी का मौलिक उपन्यास 'शान्तिनिकेतन' भी वहीं से प्रकाशित हुआ। शास्त्रीजी ने भविष्य के लिए बड़ी बड़ी साहित्यिक योजनाएँ बनाई थीं। उनका प्रकाशन-व्यवसाय भी लाभप्रद रीति से चल निकला था। किन्तु वे स्वयं केवल साहित्यिक ही थे, व्यवसायबुद्धि का अभाव था। उनकी दरियादिली ही रोजगार के लिए घातक हुई। पनपते या जमते हुए व्यापार के लिए शाहखर्ची ही खतरे की घंटी है। सेठजी और मुन्शीजी ने उनको कई बार नेक सलाह दी। पर वे अपने उदार विचार से लाचार थे। अन्त में पता लगा कि विशुद्ध लाभदर्शी लोगों ने उनके साहित्यिक सपनों को सफल न होने दिया। कई साल बाद बिहार की 'गंगा' पत्रिका में फिर मेरा-उनका साथ हुआ।

बाबू बलदेव प्रसाद खरे बड़े रंगी जीव थे। कलकत्ता छोड़ने के बाद मैं फिर कभी उनसे मिल न सका। जहाँ तक याद है, एक बार शायद काशी में वे मिले थे। वे बड़े कुशल अभिनेता थे। कलकत्ता के कई प्रकाशकों ने उनके लिखे पौराणिक और सामाजिक नाटक प्रकाशित किये थे। उन दिनों कलकत्ता में कई हिन्दी-

नाटकों के अभिनय प्रायः हुआ करते थे। हिन्दी-नाट्य-समिति के संचालक पूर्वोक्त बाबू रामलाल वर्मा थे। हिन्दी-नाट्य-परिषद् के प्राण थे पंडित माधव शुक्ल, जो हिन्दी के अत्युच्च कोटि के अभिनेता थे। इन संस्थाओं में आपसी होड़ भी खूब थी; पर उसमें द्वेष का लेश न था, केवल कलाप्रदर्शन की ही स्पर्द्धा थी। कई युवकों की अभिनय-कला पुरस्कृत हुई थी। ऐसे युवकों में केवल 'केशव' का नाम याद है। स्त्री का स्वांग उसका सदा सफल रहा। काशी के यशस्वी अभिनेता बाबू केशव प्रसाद टण्डन भी उस समय कलकत्ता के हिन्दी-रंगमंच का गौरव बढ़ा रहे थे। जहाँ तक याद है, वे शाहजहाँ, औरंगजेब और चाणक्य की भूमिका में बहुत सफल हुए थे। मैंने काशी में भी उनका अभिनय देखा। शुक्लजी के नाट्यकौशल का तो कहना ही क्या! वे अपने समय में हिन्दी-रंगमंच के सिंह थे।

खरे जी प्रायः प्रहसनों में ही अभिनय किया करते थे। एक बार उन्होंने स्त्री का स्वांग धारण किया। सेठजी शाम की बूटी जम जाने पर कहीं बाहर नहीं जाते थे। खरे जी के विशेष आग्रह पर उन्हें नाटक देखने जाना पड़ा। किन्तु भंग की तरंग में नाट्य-शाला में ही ऐसी हँसी उमड़ी कि मुन्शीजी उन्हें नशे की दशा में अकेला न छोड़ सके, प्रेस तक साथ गये। हँसी उमड़ी खरेजी को नारी-वेश में देखते ही। प्रौढ़ावस्था में पुरुष-कण्ठ कर्कश हो ही जाता है। पुरुष अपनी उठती जवानी में ही स्त्री का पार्ट अच्छा कर सकता है। स्त्री का वेश रूपवान नवयुवक को ही फबता है। उपर्युक्त केशव की स्वर-माधुरी में रंचमात्र भी अस्वाभाविकता का आभास नहीं मिलता था। उन दिनों पारसी और बँगला थियेटरों में स्वयं स्त्रियाँ ही अभिनेत्री होती थीं, इसलिए लोगों के कान भी प्रौढ़ कण्ठ का स्वर सुनने को अभ्यस्त नहीं थे। खरे जी मंच पर ज्यों-ज्यों बोलते, सेठजी की हँसी का पारा चढ़ता जाता। मुन्शीजी को आखिर लाचार होकर उन्हें नाट्य मंदिर से बाहर ले जाकर प्रेस पहुँचाना पड़ा। खरे जी को यह बात मालूम न होने पाई, बल्कि दूसरे दिन प्रेस में उनके आने पर सेठजी ने उनके अभिनय की बड़ी प्रशंसा की, जिसे सुनकर मुन्शीजी की हँसी न रुकी तो वे अन्यत्र हट गये और मैं भी वहाँ से टल गया।

हिन्दी के नाटकों की उस समय बड़ी धूम थी। लोगों में अदम्य उत्साह था। अभिनय में काफी भीड़ होती थी। कितने ही नवयुवकों को नाट्यकला-निपुण देखकर आशा की जाती थी कि हिन्दी का रंगमंच कुछ दिनों में बहुत उन्नत हो जायगा। पारसी थियेटरों में भी हिन्दी के सुन्दर नाटकों के अभिनय होने लगे थे। इसकी चर्चा आगे होगी। बड़ा बाजार में नाटकों से काफी हलचल रहती थी। एक बार

हास्यरसावतार पंडित जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी भी रंगमंच पर उतरे थे। उन्होंने रोने का पार्ट किया था। उनकी नाना प्रकार की रुलाई ने हँसाते-हँसाते लोगों को बे-दम कर दिया। कविवर 'निराला' जी को भी रंगमंच पर लाने की चेष्टा हुई थी; पर उनको लोग राजी न कर सके। वे बहुत अच्छे अभिनेता हैं। सेठजी के कमरे में कई बार उन्होंने अभिनय की भावभंगी के साथ अपनी 'पंचवटी' कविता सुनाई थी। बँगला के अभिनय भी दिखलाये थे। उनकी अंगभंगिमा देख मुग्ध होकर एक दिन पाठकजी ने कहा था—"आर्यों के शरीर की गठन का जैसा वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है वैसा ही निराला जी का तगड़ा और पुष्ट बदन है। इनकी आँखें और उँगलियाँ देखकर अजन्ता-गुहा के चित्र याद आ जाते हैं। जान पड़ता है कि अजन्ता की कोई प्रस्तर-प्रतिमा सजीव होकर हिन्दी-जगत् में चली आई है। इनका मुख-विवर और चिबुक ठीक आर्यों के समान है। आर्यजाति के वंशधर की तरह मेधा भी इन्होंने पाई है।"

इसके कई साल बाद मैंने कलकत्ता में ही फिर निराला जी को देखा। कविवर रत्नाकरजी के सभापतित्व में अखिलभारतीय हिन्दीसाहित्य-सम्मेलन वहाँ विश्वविद्यालय के सिनेट-हाल में हुआ था। उसके सामने वेलिङ्गडन पार्क में निरालाजी ने कुर्ता उतार कर अपनी मांसपेशियाँ दिखलाईं। उस समय उनका शरीर पहले से कहीं अधिक स्वस्थ और सुडौल था। काली-काली जुल्फें भी थीं। उनके बदन की तैयारी देख पाठक जी की बातें एकाएक याद हो आईं।

मैं कभी भी आराम-तलब, दिखावटी और संतुष्ट नहीं रहा हूँ। मैंने जब कभी दर्पण में चेहरा देखा, मेरे अन्दर लज्जा की अनुभूति अवश्य हुई है।

मेरे अन्दर कभी पाप की चेतना उत्पन्न नहीं हुई।

मैंने पत्रों में अपने सम्बन्ध में लेख कभी नहीं लिखा और न अपने निजी सचिवों को ऐसा करने दिया।

मैं एक ऐसा घर चाहता हूँ, जहाँ मैं रह सकूँ।

मैंने हमेशा क्रान्ति पसन्द किया है; किन्तु क्रान्तिवादियों को कभी नहीं।

—लिन यू तान

एकान्त के विचार

प्रो० हंसराज अग्रवाल, एम० ए०

२७ चैत, रविवार

× ×

विचार, शुभ विचार, प्रत्येक मनुष्य के हृदय में उठते रहते हैं, परन्तु क्या मनुष्य उन्हें पकड़ पाता है? जैसे निद्रा प्रत्येक मनुष्य के पास आती है, परन्तु साधारण व्यक्ति उसके आने को जान नहीं पाते, वैसे ही विचार आते तो हरेक मनुष्य के पास हैं, परन्तु सधारण मनुष्य उन्हें जान नहीं पाता। बिजली की चकाचौंध की भाँति वे नष्ट हो जाते हैं। यदि हम कहीं उन्हें पकड़ सकें तो वास्तव में लोकोत्तर कहलायें। इसी प्रकार यदि हम निद्रा के स्वामी बन जायँ, तो गुडाकेश (निद्रा के स्वामी अर्जुन, असाधारण व्यक्ति) बन जायँ

× ×

मनुष्य पाई-पाई का हिसाब रखता है। कहते हैं, व्यापारी लोग एक पैसे का फर्क निकालने के लिए एक आने का तेल फूँक देते हैं। परन्तु समय तो अमूल्य है। गया पैसा वापस आ सकता है, परन्तु गया समय वापस नहीं आ सकता। क्या हमें अपने समय का भी उतना ही ध्यान है, जितना धन का? (होना तो कई गुणा अधिक चाहिये)। यदि हो, तो निश्चय रखें हमारा भविष्य उज्ज्वल, परमोज्ज्वल होने जा रहा है।

× ×

यदि 'क' सर्व प्रथम रह सकता है तो मैं क्यों नहीं? यदि 'ख' प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हो सकता है तो मैं क्यों नहीं? साधारण सफलता से मुझे सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए; और निष्फलता तो मेरे लिए है ही नहीं। एक चुटकी आटे कीड़ो का पेट भर सकता है, गाय का नहीं

× ×

पुनर्जन्म को माननेवाला कभी निराशा-वादी हो सकता है? वह निराशा क्यों करे?

× ×

क्या मैं अपने आन्तरिक दोषों को जानता हूँ? जानता हुआ भी नहीं जानता। यदि जान सकूँ और उनके बखान करने का सामर्थ्य पा सकूँ तो मैं वास्तव में महान् बन जाऊँ।

× ×

जिस कार्य को मैं जनता में स्वीकार

नहीं कर सकता, वह करने के योग्य नहीं। उस का न करना ही अच्छा।

× ×

कहते हैं, धन की हानि कोई हानि नहीं; स्वास्थ्य की हानि कुछ हानि है, और चरित्र की हानि सर्वहानि है। यदि हम वास्तव में इस कथन की सत्यता को अनुभव करते हैं तो धन प्राप्ति के लिए स्वास्थ्य और चरित्र की हानि क्यों करते हैं ?

× ×

चोर के भी हृदय होता है। नीच से नीच में भी सद्गुण विद्यमान रहते हैं। [चोर अपने गाँव में चोरी और व्यभिचारी अपनी गली में व्यभिचार नहीं करता] हम उनके अवगुणों की ओर न देखकर गुणों की ओर देखना सीखें।

× ×

२८ चैत, सोमवार

किसी की मृत्यु पर उसके बांधव क्यों रोते हैं और परमात्मा तक को कोसते हैं ? क्या सचमुच उनको मृत बान्धव के साथ सहानुभूति है ? वास्तव में हमारे दुःख की मात्रा उतनी ही होती है जितनी कि उस मृत बांधव के चले जाने से हमारे स्वार्थ को हानि पहुँची है। हम अपने स्वार्थ को रोते हैं। देखो, देवता लोग हमारी इस स्वार्थता और विवशता पर हँस रहे हैं ? क्या स्वार्थी व्यक्ति को भी सृष्टि का श्रेष्ठ प्राणी कहलाने का अधिकार हो सकता है ?

स्वार्थ, सर्वत्र स्वार्थ···छोटे पुरुषों में थोड़ा, तो बड़ों में बहुत। कहते हैं, पटियाला यूनियन में लाखों मन अन्न सड़ कर कोठों में खराब हो गया, व्यापारी चिल्लाते रहे, परन्तु अधिकारियों ने एक न सुनी, क्योंकि उनका स्वार्थ इसी में था। जनता भूखों मरे, देश की हानि हो, उनकी बला से; यह सब गौण बातें हैं। स्वार्थ रूपाय देवाय नमो नमः।

× ×

२९ चैत, मंगलवार

"हमें अपने धर्म का पालन करना चाहिये; दूसरा क्या करता है, इसकी चिन्ता नहीं होनी चाहिये।"

ठीक है, हमारे जीवन की सफलता की कुंजी यही है। ऋषियों, मुनियों के उपदेश का सार यही है। हमारी सभ्यता और संस्कृति का बीज इसी मूल मन्त्र में निहित है। विश्व शान्ति का यही उपाय है। "धर्मोहतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षित।" यदि हम धर्म का हनन करते हैं तो आत्म-हत्या करते हैं; यदि हम धर्म की रक्षा करते हैं, तो धर्म हमारी रक्षा करता है। धर्म परम कर्त्तव्य का दूसरा नाम है। परन्तु हमारा धर्म क्या है ? यही तो एक विषम समस्या है। "धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्" "किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिता।" भगवान् कृष्ण ने गीता में 'अहिंसा' का, 'निष्काम कर्म' का, 'सम बुद्धि' का उपदेश किया और अर्जुन को महाभारत का युद्ध लड़ना ही परम धर्म बताया। महाभारत

में धर्म का सार बताया गया है,

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यस्
तस्मिन् तथा वर्तितव्य स धर्मः।
मायाचारो मायया बाधितव्यः
साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः॥

अर्थात् जैसे के साथ तैसा बरता जाय। कपटी को कपट से समाप्त किया जाय और और सीधे के साथ सिधाई बरती जाय। कहा भी है, "शठं प्रति शाठ्यं समाचरेत।" तो प्रश्न उठता है—क्या हम अपनी नेकी से दुष्ट को वश में ला सकते हैं? संसार के इतिहास में हमें अनेक अत्याचारियों और दुष्ट जातियों के वर्णन पढ़ने को मिलते हैं। न कौरवों पर पाण्डवों की नेकी का प्रभाव पड़ा, न बली रावण पर भगवान् राम की साधुता का। "डंडा पीर है बिगड़ेया तिगडेया दा।" साम, दाम, दण्ड, भेद, इन चार उपायों में दुष्ट अधिकतर 'दण्ड' को ही मानता है। 'साम', 'दान' को वह कमजोरी समझकर उल्टा सिर पर चढ़ता है। हम अपने धर्म को पहचानें और उस पर दृढ़ता पूर्वक चलें। इसी में हमारा और सारे संसार का कल्याण है।

× ×

३० चैत, बुधवार

किसी की पीठ पीछे उस पर शारीरिक अथवा वाचिक प्रहार करना कायरता है, नीचता है। हमारी सभ्यता और हमारी संस्कृति इसकी आज्ञा नहीं देती। पीठ पीछे किसी की निन्दा करना, चुगली करना, दोष वर्णन करना वाचिक प्रहार है, जो अति निन्द्य है और स्वयं प्रहारकर्ता के अधःपतन का कारण बनता है। हिम्मत हो, तो किसी के दोषों को उसके मुख पर कहो; तब तो तुम उसके शुभ चिन्तक मित्र समझे जाओगे, और वास्तव में महान् बन जाओगे।

बच्चों की स्मृति

महीने बीते······ज़िन्दगी की नदी में स्मृति के टापू उगने लगे। पहले वे अस्फुट टापुओं की तरह दीखते—चट्टानें जो पानी से ऊपर ज़रा-ज़रा झाँक रही हों। उनके आसपास, सुबह के धुँधलके के पीछे, पानी की स्थिर सतह फैली हुई; तब नये टापू, जो सूर्य-किरणों के स्पर्श से सोने के बन जाते।

—रोम्याँ रोलाँ

हम इनसे मिले थे

मौलाना अबुल कलाम आज़ाद

डा० सैयद एजाज़ हुसैन

होश सम्हालने के बाद उर्दू-साहित्य में हमें दो 'आज़ादों' की प्रसिद्धि वातावरण में बरसती-सी दिखाई पड़ी। एक की आवाज़ उत्तर से बढ़ते-बढ़ते तमाम भारत-वर्ष की साहित्यिक दुनिया में फैल गई थी और दूसरे की पूरब से आँधी की तरह चलकर सारे देश में गूँज रही थी। एक मुहम्मद हुसेन 'आज़ाद' की आवाज़ थी दूसरी अबुल कलाम 'आज़ाद' की। एक लाहौर से उठी थी, दूसरी कलकत्ते से।

मुहम्मद हुसेन आज़ाद की आवाज़ में गंगा की रवानी और पानी का मज़ा था। सफाई, नरमी और लोच ज़्यादा थी। अबुल कलाम आज़ाद की आवाज़ में झेलम के पानी की तरह ज़ोर-शोर और बेपनाह बहाव था। ऐसा मालूम होता था कि हर चीज़ बही जा रही है। जैसे झेलम में बड़े-बड़े शहतीर और पत्थर के टुकड़े बहते हुए चले जाते हैं, उसी तरह विरोधी विचार-धारा कितनी ही भारी-भरकम क्यों न हो, मौलाना अबुल कलाम आज़ाद की रचना के बहाव में सभी बहते नज़र आते थे। ऐसा मालूम होता था कि जैसे हम पांव जमा कर कुछ कहना चाहते हों, मगर नदी की तेज धारा पांव उखाड़ रही हो।

मेरे बचपन में मुहम्मद हुसेन आज़ाद की आवाज़ और उसका असर कुछ कम हो चला था। अबुल कलाम आज़ाद की आवाज़ बढ़ती जा रही थी। उनकी रचनाओं को उनके भाषण का भी सहारा मिल रहा था। मुहम्मद हुसेन आज़ाद अब मर चुके थे। उनके यहाँ रचनाओं का अब कोई बढ़ाव नहीं हो रहा था।

अबुल कलाम आज़ाद अपने काम के द्वारा प्रसिद्धि के क्षेत्र में दिन रात बढ़ते जा रहे थे। उनका समाचार पत्र-'अलहिलाल'-अपनी विशेषताओं के कारण शिक्षित समुदाय के दिलों में घर करता जाता था। उनके लिखने का ढंग इतना अच्छा था कि पढ़ने वाले अनुभव करते कि जैसे वे खुद आज़ादी की लड़ाई में हिस्सा ले रहे हों—

युद्ध क्षेत्र में खड़े हुए, फौजी बाजे की आवाज़ से, आगे बढ़ने के लिए कदम उठा रहे हों। यह सभी दृश्य बचपन में मेरे सामने थे और सोने में सुगन्ध यह कि कभी कभी अबुल कलाम आज़ाद के भाषण सुनने में आ जाते थे। उनको सुनकर तो मालूम होता था कि कोई व्यक्ति जादू कर रहा है। पूरी भीड़ उनके एक एक शब्द को ज्यादा से ज्यादा हिफाजत के साथ दिल व दिमाग में सँजो-सँजो कर रख रही थी और चाहती थी कि मौलाना बोलते ही जायँ और जहाँ तक सम्भव हो वह आवाज़ सुनती ही जाय। यानी ये सब खूबियाँ थीं, जिन्होंने हमारी साहित्यिक रुचि और राजनीतिक चेतना को अबुल कलाम आज़ाद का प्रेमी बना दिया था। उस समय के राजनीतिक नेताओं में उर्दू के कई मशहूर लिखने वाले थे, मगर आज़ाद से अधिक मुझे कोई पसन्द न था। इसी कारण उनसे मिलने की इच्छा प्रतिपल प्रबल होती जाती थी। परन्तु कोई सूरत मुलाकात की न निकलती थी। मौलाना आज़ाद प्रसिद्धि के पहाड़ की चोटी पर थे। मैं अपनी रुचि को लिए हुए ज़मीन पर नीचे खड़ा था। मिलना तो अलग रहा, इसकी भी हिम्मत न थी कि किसी के सामने अपनी इस इच्छा को प्रकट भी कर सकूँ।

राष्ट्र में क्रान्ति की लहरें उठती रहीं। हलचल होती रही। आज़ाद गिरफ्तार होते रहे, कुरबानियाँ देते रहे। 'अलहिलाल' बन्द हो-हो कर निकलता रहा। उनसे मिलने की मेरी इच्छा भी हिचकोले खाती रही। कभी कम हो जाती थी, कभी ज्यादा। आखिरकार किसी तरह मिलने का अवसर आ ही गया। शाम का समय था, शायद अक्टूबर का महीना। चाय की एक छोटी-सी दावत, छोटे से एक कमरे में, एक मित्र ने दी थी जिनको कोई बड़ा आदमी नहीं समझता था परन्तु वे खुद अपने को बड़ा आदमी समझते रहे हैं। पता नहीं यह युग की ग़लती है या उनकी अपनी भूल। इसका फैसला शायद इस व्यक्ति के जीवन में न हो सके। फिर भी, उनका कृतज्ञ हूँ कि इस चाय की दावत में उन्होंने हमें भी याद किया था और इस तरह बरसों की इच्छा पूरी हुई।

मौलाना से मिलने का पहला मौक़ा था। मैं पास जा कर बैठा तो एक अजब-सी भावना मन में उठी। कुछ रोब, कुछ आदर, कुछ बात करने का शौक़, गरज कि बहुत सी भावनाओं ने दिल की धड़कन का रूप धारण कर लिया। जहाँ तक याद है, इस दावत में छः आदमी से अधिक न थे। क्योंकि उस समय सरकार कांग्रेस की शत्रु थी और सरकार की त्योरी पर बल देखकर लोग राष्ट्र के नेताओं से मिलने पर भी घबड़ाते थे, इसीलिए मेह-मानों की संख्या सीमित थी। हमारे मेज़-बान ने हमारा परिचय कराया। मैं पास जा कर बैठ गया। कुछ देर तक तो शिष्टा-

धार की रस्मी बातें हुई; फिर मौलाना आज़ाद ने खुद ही कहा—"आप की 'तारीखे अदब-उर्दू' के बारे में सुना है। वह मिलती कहाँ है!" मैं अपनी किताब भेंट करने को साथ ही ले गया था। फौरन सामने रख दी। मौलाना ने हिम्मत बढ़ाने के लिए कहा—"आपने बड़ा काम किया। उर्दू-साहित्य के इतिहास की बड़ी ज़रूरत थी। एक कमी पूरी हो गई।"

किताब मौलाना के हाथ में थी। खोलते ही सवाल किया—'संक्षिप्त इतिहास इसका नाम क्यों रखा?"

"वृहत लिखने की फुरसत न थी, न मुझ में योग्यता है।" अभी मेरा वाक्य पूरा भी न हुआ था कि निजी योग्यता और नालायकी की बहस को छोड़ कर मौलाना ने फौरन सवाल कर लिया—

"इतिहास लिखने के लिए आप किस क़िस्म का आदमी चाहते है?"

मैंने जो कहा, ठीक तो याद नहीं पर मतलब यह था—

उर्दू भाषा के प्रारम्भिक इतिहास को लिखा ही नहीं गया। क्योंकि यह बहुत कठिन काम है। इसका प्रारम्भ मालूम करने के लिए एक ऐसे आदमी की ज़रूरत है जो फारसी, अरबी का विद्वान हो। संस्कृत, हिन्दी व पंजाबी का भी पंडित हो। और सब से अधिक भारतीय इतिहास और भाषा विज्ञान से भी उसका परिचय हो। और स्पष्ट है कि ऐसे व्यक्ति का मिलना आसान नहीं, इसलिए एक के अलावा कई लोग हों, तो कुछ काम हो सकता है।

मौलाना के चेहरे पर एक खास क़िस्म की गम्भीरता आ गई और माथे पर एक-दो शिकन भी। उन्होंने उभर कर सांस ली और कहा—

"बात बहुत हद तक माकूल (ठीक) है। लेकिन विदेशी हुकूमत से क्या उम्मीद की जा सकती है? वह समय आयगा जब हिन्दुस्तान हिन्दुस्तान होगा। उस समय यह काम हो सकता है।"—यह कह कर वे चुप-से हो गये।

मैंने भी बात का रुख बदलने के लिए कहा—"अगर फुरसत मिल जाय तो आप मेरी इस किताब पर एक नज़र डाल कर इसकी खराबियों से मुझे आगाह कर दें। लेकिन आजकल आपको समय कहा? इसलिए मैं उम्मीद नहीं करता कि आप इस किताब को देखने का समय पा सकें।"

यह वाक्य समाप्त न हुआ था कि मौलाना के तेवर पर बल आ गया। चेहरे का रंग किसी क़दर अधिक लाल हो गया। कहने लगे—"वक्त निकालने से निकल आता है। पढ़ना-लिखना भी मैं ज़रूरी काम समझता हूँ। चौबीस घंटे में अगर चौबीस पन्ने न सही, तो बारह पन्ने ज़रूर पढ़ने की कोशिश करता हूँ। यह किताब मैं आज ही रेलगाड़ी में पढ़ डालूँगा और आपको अपनी राय लिख भेजूँगा।"

इसके बाद मैंने एक बेतुकी-सी बात

मौलाना से पूछी—"क्या आप को विश्वास है कि अँग्रेजी सरकार इस देश से समाप्त हो जायगी ?"

मौलाना ने इसके जवाब के लिए मुझसे ही एक सवाल कर लिया, "क्या आपको यक़ीन है कि अँग्रेजी हुकूमत इस मुल्क में और रहेगी ?" फिर निहायत नम्रता के स्वर में बोले, "भाई मेरे, किसी इन्सान का दूसरे इन्सान पर हुकूमत करना असम्भव है। अँग्रेजी हुकूमत को यहाँ से जाना ही है और जल्दी ही।"

बात का सिलसिला यहाँ तक पहुँचा ही था कि मेजबान ने बेसब्री से बीच में शुरू कर दिया, "मौलाना की विद्वता का आदमी इस देश में दूसरा नहीं। आप की कुरबानियाँ, आप की सूझबूझ बेमिसाल हैं।" इस प्रकार के कई वाक्य मेज़बान ने जल्दी-जल्दी वातावरण पर बरसा दिये, क्यों कि यह मेज़बान मुँहपर हर एक की तारीफ करने में अपना जवाब नहीं रखता। मगर मौलाना की काबलियत का अँदाज़ा उस समय भी हुआ जब अपनी तारीफ़ सुनकर उन्होंने मुँह बनाया और फौरन बात काट कर बोले—

"भाई मेरे, इन बेकार बातों में क्या रखा है ? मैं कुरबानी क्या कर रहा हूँ ? एक सिपाही अगर अपना फर्ज़ अदा कर रहा है तो क्या खास बात ! यह तो उसे करना ही चाहिए।"

यह बैठक कोई आध घंटे रही। मौलाना ने भिन्न-भिन्न विषयों पर बातें कीं। ज्यादातर हल्की-फुल्की बातें होती रहीं। मगर बीच बीच में बड़े काम की बातें कर जाते थे। इस छोटी सी भेंट में जो बातें हुईं उनसे मुझे अनुभव हो रहा था कि आज मैं ऐसे व्यक्ति से मिला कि मालूम होता मैं अतीत और वर्तमान के संगम पर खड़ा कर दिया गया था। आचरण, सभ्यता, स्पष्टता और बड़प्पन के साथ-साथ अपनापन, विचारों की आज़ादी, और मानवता का मिलाव जो मौलाना के व्यक्तित्व में मिला वह अपनी जगह पर खुद एक संगम था।

इस भेंट के बाद दो-तीन साल बीत गये। कभी इस इतमिनान के साथ मौलाना से मिलने का अवसर न मिला। एक दिन आनन्दभवन में मौलाना से मिलने का फिर मौक़ा मिला। किसी राजनीतिक गोष्ठी के सिलसिले में वे इलाहाबाद आये थे। मैं भी भेंट के लिए गया। सैकड़ों आदमी आदमी घेरे थे। कई एक नेता आये थे, जो मोती की तरह इधर-उधर बिखरे थे। जब मैं पहुंचा, कोई मीटिंग नहीं हो रही थी बल्कि लोग इधर उधर मिल रहे थे। कुछ कमरे में थे, कुछ बरामदे में, कुछ बाहर मैदान में। मौलाना बाहर ही टहल-टहल कर लोगों से बातें कर रहे थे। मैं भी किसी तरह उनके पास पहुँच गया। मालूम नहीं, मौलाना ने पहचाना भी, परन्तु पुराने परिचितों की तरह इस तरह इस भाव

से मेरे सलाम का जवाब दिया कि मुझे अनुभव हुआ कि मौलाना ने पहचान लिया। मैंने बढ़ कर हाल पूछा। मौलाना ने जबाब में फारसी का एक शेर पढ़ा।

मैंने जल्दी से कहा—"अब तो बड़ा अंधेरे हो रहा है। अंग्रेजी हुकूमत रोज-ब-रोज कड़ाई करती जा रही है। कुछ समझ में नहीं आता कि क्या होगा ?"

मौलाना ने बहुत इतमिनान के साथ मुस्कुरा कर कहा—"भाई मेरे, अंधेरे के बाद ही उंजाला आता है। यह अंधेरा आँख की रोशनी नहीं कम करता बल्कि दिल की रोशनी बढ़ाता है। जिसे आप लोग सख्ती समझ रहे हैं वह ऐतिहासिक आवश्यकता है। यह तो होना ही था। आज़ादी के लिए खंजर की धार पर चलना ही पड़ता है। जो इससे घबराता है उसे हमारे साथ नहीं चलना चाहिये।"

मैंने कहा—"आप लोग सरकार से पूछते क्यों नहीं कि आखिर यह हिमाकत क्यों कर रही हैं ?"

मौलाना ने कहा—"ग़ालिब का यह शेर याद है।

वह अपनी खून छोड़ेंगे
हम अपनी वज़ा क्यों छोड़ें ?
सुबुक सर बन कर क्या पूछें,
कि हमसे सरगराँ क्यों हो ?"

मैंने कहा—"जी हाँ, याद है।"

मौलाना ने बात का रुख बदल कर कहा—

"ग़ालिब बहुत बड़ा शायर था।"

मैंने भी कहा—"जी हाँ, बहुत बड़ा शायर था।"

मौलाना ने कहा—"और आदमी भी बड़ा था।"

मैंने कहा—"कोई बड़ा आदमी हुए बगैर बड़ा शायर हो भी तो नहीं सकता।"

मौलाना मुस्कुरा कर बोले—"हाँ बिल्कुल ठीक है। मगर बगैर बड़ेपन के शायद कोई भी कलाकार कुछ नहीं होता। साहित्य में ही क्या किसी भी क्षेत्र में नाम नहीं पैदा कर सकता।"

मैंने कहा—"माफ कीजिएगा, आप जितनी नम्र भाषा यों हर समय बोलते हैं वह भाषण के समय क्यों इतना बदल जाती है ?"

मुझे गौर से देख कर पूछा—"क्या मेरी ज़बान भाषण के समय बिल्कुल बदल जाती है। मुझे खुद तो ज्यादा फर्क नहीं मालूम होता। मगर हाँ, यह ज़रूर है कि भाषण देते समय मेरा दिल अन्दर से जोश भरता है। विचार खुद-ब-खुद उमड़ आते हैं। उनको जिस तरह मेरी जुबान से निकलना होता है, बहते चले आते हैं। मैं आपको यकीन दिलाता हूँ कि अपनी तरफ से मैं उन्हें उस वक्त सँवारने की कोशिश नहीं करता। मैं लिख कर तो बोलता नहीं कि शब्दों की काँट-छाँट में कलम चलाता रहूँ। कभी कभी तो यह भी

(शेष पृष्ठ ९६ पर)

कहानी

तत्तापानी की सैर

श्री भनोट

"फिर मैं इतनी दूर से क्यों तुमसे मिलने आती हूँ ? कभी सोचा है तुमने ? तुम तो समझते होगे कि मैं यहां सैर करने चली आती हूँ, जैसे मैंने पहाड़ कभी देखे ही नहीं !"

"नाराज क्यों हो रही हो सत्या ? मेरा भी तो सोचो—मैं दफ्तर से रोज रोज उठकर कैसे चला आया करूँ ? क्या तुम चाहती हो कि मेरी नौकरी छूट जाय ?"

"मैं कुछ नहीं जानती—आधे-आधे घण्टे के लिए आने से तो अच्छा है कि तुम आया ही न करो। अगर तुम मुझ पर एहसान चढ़ाने के लिए आते हो, तो बेशक न आओ……मैं कल ही चली जाऊंगी, फिर तुम सारा दिन और सारी रात चाहे दफ्तर में बैठे रहना।"

जगदीश चुप रहा। सत्या उसपर व्यर्थ ही नाराज हो रही थी परन्तु वह नहीं चाहता था कि वह लौट जाय। आज चार दिन से वह दफ्तर से बराबर एक घण्टा पहले उठकर चोरी से यहां चला आ रहा था। उसे डर था कि कहीं पकड़ा गया तो पेशी हो जायगी। वह अच्छे पद पर था, परन्तु उसको अपने अफसर का डर तो था ही।

"सत्या ! नाराज हो गई………? दो तीन दिनों के लिए मुझे जाने दो, फिर मैं हर तरह से तुम्हारा ही हो जाऊँगा।"

सत्या ने मानों सुना ही नहीं। वह पलंग पर लेटी दीवार की ओर देख रही थी।

"सत्या, जाने दोगी ? सच कहता हूँ कि लौट के जब आऊँगा तो कोई रुकावट नहीं होगी। फिर मैं आठ दस दिन की छुट्टी भी ले लूँगा और सारा दिन यहीं रहा करूँगा—और अगर तुम मुझे ठहरा सको, तो रात को भी।"

"बड़े छुट्टी लेने वाले बने हो ! और अगर ली भी तो कान्ता के पास बैठे रहा करोगे……सच कहती हूँ, तुम्हारे जैसा बीवी का गुलाम मैंने नहीं देखा। इतना भी क्या डरना हुआ कि अन्धेरा होते होते घर पहुँच जाओ, मानों तुम अभी तक बच्चे ही हो !"

जगदीश चुप था। वह सत्या की ओर देखता रहा।

सत्या ने लेटे-लेटे हाथ बढ़ाया और जगदीश का हाथ अपने हाथ में ले लिया।

"जगदीश ! क्या अब मैं वह नहीं रही जो पहले थी ? अब मुझे भुला रहे हो !"

जगदीश ने एक लम्बी सांस लेते हुए कहा—"सत्या, तुम्हीं ने तो कहा था कि

शादी कर लो। मैं तो निश्चय कर चुका था कि शादी नहीं करूँगा। याद है, जब तुम दो साल हुए आई थी, तो तुमने कहा था, 'शादी कर लो—फिर मैं कभी कभी तुम्हारे घर आकर ठहर भी सकूँगी। ऐसे तो कोई आने न देगा।' मगर बहुत बड़ी गलती हुई। अब जब तक वह है, मैं उसे क्या करूँ ? एक निश्चय मैंने किया है, पर तुम मुझे जाने दो तब न।"

"तत्तापानी में क्या रखा है जो तुम वहां जाने के लिए इतना तड़फड़ा रहे हो ? पहले भी तो देख चुके हो। मैं यहां अकेली पड़ी रहूँगी।"

"बस तीन दिन के लिए सत्या। तुम यहां करुणा और सुरेन्द्र के साथ ताश खेला करना।"

"सुरेन्द्र कौन-सा रोज आता है। और जब आता है, मुश्किल से एक घण्टा बैठता है......यहां आकर मैंने देखा है कि कोई किसी का नहीं रहता। जब तुम्हीं बदल रहे हो तो इन दूर दूर के रिश्तेदारों को क्या पड़ी है कि मेरे पीछे अपना समय खराब करें ?"

कुछ देर ठहर कर जगदीश ने कहा—"सत्या, अब मुझे जाने दो। मैं बाजार से कुछ चीजें लेकर घर जाऊँगा। कल के लिए चीजें भी बांधनी हैं।"

जगदीश उठा। उसने अपने दोनों हाथ सत्या के कपोलों पर रख दिये और उसके ऊपर झुक गया। "सत्या, ! मैं तत्तापानी से अकेला ही लौटूँगा !" उसने बहुत धीमी आवाज में कहा। "बस तीन दिन के लिए जाने दो" और उसके ओंठ सत्या के ओंठों पर आकर रुक गये।

बाहर से किसी के पैरों की चाप सुनाई दी। कुछ इस कारण और कुछ जगदीश की बात से, सत्या चौंक उठी। उसने अपने हाथों से जगदीश को धकेल दिया, "खबरदार, जो ऐसा किया ! मैं यह कभी नहीं चाहूँगी। तुम्हें क्या हक है कि किसी की जान लो ? शर्म नहीं आती ऐसा कहते हुए ?" उसने घबड़ा कर कहा।

जगदीश हटकर कुर्सी पर बैठ गया। उसके चेहरे से दृढ़ता टपक रही थी। उसने एक निश्चय कर लिया था और सत्या के चुम्बन से जो हलचल उसके हृदय में फैल गई थी, उससे उसका निश्चय और भी दृढ़ हो रहा था।

वह सत्या से प्रेम करता था। सत्या के इतना समीप बैठे बैठे जगदीश की बुद्धि काम नहीं कर रही थी। वह केवल सत्या को देख रहा था और अपने और उसके बीच में से सब अड़चनें-रुकावटें निकालना चाहता था। वह जाने के लिए उठ खड़ा हुआ।

सत्या ने देखा कि जगदीश एक बहुत कठोर संकल्प किये हुए है और उसपर सत्या के वाक्यों का कोई असर नहीं हुआ है। "पाँच मिनट रुको, फिर चले जाना।" उसकी आँखों में अनुराग के साथ साथ भय भी था।

जगदीश कुछ कहने को ही था कि करुणा ने कमरे में प्रवेश किया। जगदीश ने उसको नमस्ते किया और फिर कुछ अनिश्चित भाव से कुरसी पर बैठ गया।

"सुरेन्द्र आ रहा है," करुणा ने सत्या से कहा। "अभी बाहर मुझसे कह कर गया है कि सिगरेट की डिब्बी लेकर आता हूँ। पाँच मिनट में आता होगा.........ताश खेलेंगे?" उसने जगदीश की ओर मुड़कर पूछा।

"नहीं, अब मुझे जाना है। देर हो रही है। कल के लिए कुछ चीजें भी खरीदनी हैं।" वह फिर चलने के लिए उठ खड़ा हुआ।

"कुछ देर और बैठिए" सत्या ने कहा। सुरेन्द्र आ जाय तब चले जाना।"

"नहीं, अब जाता हूँ......नमस्ते।"

सत्या डरी हुई थी। "अच्छा, कल आना। जाने से पहले मुझसे जरूर मिल जाना, आपको कसम है!" उसने गम्भीरता से कहा।

जगदीश मुस्कराया। "अच्छा, सबेरे आने की कोशिश करूँगा। नहीं तो शाम को शायद हम दोनों एक मिनट के लिए आ जाएँ। 'कैथू' तो हमारे रास्ते में पड़ेगा।"

"सबेरे ही आइयेगा – अगर हो सके तो अकेले ही। मुझे आपसे कुछ जरूरी बातें करनी हैं।"

जगदीश जानता था कि यह जरूरी बातें क्या होंगी। बहुत सोच विचार के बाद वह जिस निश्चय पर पहुँचा था, उससे डगमगाना नहीं चाहता था। वह जानता था कि जाने से पहले यदि वह सत्या से मिला तो वह उसका निश्चय अवश्य बदलवा देगी। सत्या का उसपर कितना प्रभाव है, यह वह अच्छी तरह जानता था। मन ही मन यह सोच कर कि कल वह यहाँ नहीं आयेगा, वह सत्या और करुणा से विदा लेकर चला गया।

२

शिमले से तत्तापानी को दो रास्ते जाते हैं। एक अच्छा रास्ता है, जिसपर छोटी मोटर भी जा सकती है और दूसरा पगडंडी का रास्ता है जो खड्डों में से होकर जाता है। इसपर घोड़ा खच्चर तक भी नहीं जा सकते, परन्तु पहाड़ी लोग इसीसे जाते हैं क्योंकि इससे तत्तापानी केवल अट्ठारह मील है और दूसरे से सत्ताइस मील। अगले दिन कान्ता को लेकर जगदीश इसी पगडण्डी पर चल पड़ा। पीठ पर उसने एक छोटा सा फौजी थैला लटका रखा था जिसमें एक हलका कम्बल, एक दो कपड़े और कुछ खाने पीने की सामग्री थी। वह अपने दफ्तर से तीन बजे ही उठ पड़ा था और कान्ता को लेकर सीधे पुलिस लाइन से होता हुआ खड्डों में उतर पड़ा था।

कान्ता आज बहुत खुश थी। एक वर्ष

हुए वह जगदीश की गृहलक्ष्मी बन कर आई थी। जगदीश जैसा पति पाकर वह अपने को सौभाग्यवती समझती थी क्योंकि जगदीश अच्छे परिवार का था और शिमले के सरकारी-कर्मचारी-समाज में सम्मानित था। देखने में वह सुन्दर था और कान्ता जानती थी कि उसकी जान पहिचान की स्त्रियाँ जगदीश की ओर शीघ्र ही आकर्षित हो जाती हैं। अपनी सखी-सहेलियों के अत्यन्त साधारण पति देख कर कान्ता का सर गर्व से ऊँचा हो जाता था। और फिर वह अभी नववधू बालिका ही थी। उसका घूमने फिरने में दिल लगा रहता था। आज पहली बार वह जगदीश के साथ दो तीन दिनों के लिए बाहर चली थी। इस समय जगदीश पूर्णतया उसका था और अगले तीन दिनों में होने वाली घटनाओं की मनोहर कल्पना से उसका हृदय खिल रहा था।

परन्तु जगदीश चुपचाप चला जा रहा था। वह चेष्टा कर रहा था कि उसका ध्यान कान्ता के माधुर्य्य की ओर न जाय। चलता चलता वह हाथ उठा कर अपनी कमीज की जेब टटोल लेता -- कहीं वह छोटी सी टीन की डिबिया उतरने चढ़ने में गिर तो नहीं पड़ी? कमीज के ऊपर उसने स्वेटर पहना रखा था परन्तु फिर भी उसे डर था कि कहीं नीचे झुकने से उसकी जेब से बटुआ और वह डिबिया गिर न जाय। बड़ी कठिनाई से उसने अपने एक फोटोग्राफर मित्र से थोड़ी सी 'साइनाइड' पाया था।

"मेरी दवा लाये हो?" कान्ता पगडण्डी पर उतरते हुए पूछा था।

एक विकृत मुस्कराहट जगदीश के चेहरे पर फैल गई थी। "हाँ, मेरी जेब में है आज की खुराक तो तुमने सबेरे खा ली होगी। अब कल तत्तापानी पहुँच कर ही खाना, दूध वहीं मिलेगा।"

अन्धेरा हो रहा था। जगदीश को किसी ने बताया था कि रास्ते में कई गाँव पड़ते हैं और कहीं भी दो चार रुपए देने पर रात के लिए एक कोठरी और शायद थोड़ा बिस्तरा भी जमींदारों से मिल सकता है। रात होने पर जगदीश ने एक जमींदार के यहाँ प्रातःकाल तक ठहरने का प्रवन्ध कर लिया।

प्रातः उठकर वे दोनों फिर चल पड़े। ऊबड़-खाबड़ रास्ता था परन्तु तीसरे पहर तक वह थके माँदे तत्तापानी पहुँच गये।

जिस दिन जगदीश तत्तापानी को रवाना हुआ था उस दिन सत्या देर तक उसकी प्रतीक्षा करती रही थी। उसे विश्वास था कि जगदीश सबेरे ही आयगा परन्तु जब न वह सबेरे आया और न दोपहर को, तो वह घबरा गई। जगदीश ने उसके आत्म-विश्वास पर ठेस लगाई थी परन्तु सत्या को इसका उतना ध्यान न था जितना उसके अन्तिम वाक्यों का। जगदीश क्यों नहीं आया? वह क्या करने जा रहा है? कहीं

वह सचमुच ही ऐसा कर बैठा तो ? वह जानती थी कि जगदीश उसके पीछे पागल है और उसके लिए सब कुछ कर सकता है—इसका उसको सदा गर्व था। परन्तु हत्या ! और यदि वह कहीं पकड़ा गया तो ? तो सत्या का सारा संसार ही उजड़ जायगा। जगदीश को जो होगा, वह तो होगा ही और फिर उसकी भी सारी बात खुल जायगी। वह कहीं मुँह दिखाने योग्य न रह जायगी। इस विचार से कि राह चलते लोग उसकी ओर उँगली उठाकर कहेंगे, "यही वह लड़की है जिसके लिए जगदीश ने अपनी पत्नी की हत्या की" वह व्याकुल हो उठी। उसने चिल्लाकर पुकारा—"करुणा ! करुणा !!"

"हाँ !" बाहर धूप में बैठी हुई करुणा ने उत्तर दिया। और फिर कमरे में प्रवेश करती हुई बोली, "चिल्ला क्यों रही हो ? मैं यहीं तो बैठी थी।"

"करुणा, तुम भी तो कह रही थी तत्तापानी जाने के लिए, चली क्यों नहीं गई ?"

"तुम्हीं ने तो रोका था। तुम अकेली जो रह जाती।"

"तो क्या हुआ—दो दिन की तो बात है।...सुरेन्द्र कहाँ है ? अभी तक वह भी नहीं आया। कह तो गया था दो बजे आने को।"

"आता ही होगा। उसका दफ्तर तो साढ़े चार बजे तक रहता है। अभी आधा घण्टा है। क्यों, ताश खेलोगी क्या ?"

"नहीं...पूछ रही थी, उसकी छुट्टियाँ हैं।"

सत्या उठी और रेडियो लगाने लगी। परन्तु अभी तक रेडियो पर कोई प्रोग्राम नहीं शुरू हुआ था। उसने सूई इधर उधर घुमा कर रेडियो बन्द कर दिया और फिर आकर लेट गई।

"कितने बजे हैं ?...आज मुझे ऐसा लगता है कि समय बीत ही नहीं रहा। मेरे पास बैठो करुणा। मुझे अकेले अकेले अच्छा नहीं लग रहा।"

करुणा सत्या के पलंग पर आकर बैठ गई और उसके माथे पर हाथ फेरने लगी।

थोड़ा ही समय बीता होगा कि सुरेन्द्र आ गया। उसको देखते ही सत्या ने पूछा—"इतनी देर कहाँ लगा दी ? तुम तो दो बजे आ रहे थे ?"

'देर हो गई। दफ्तर में काम बहुत था। क्यों जगदीश नहीं आया ? मैंने उसके दफ्तर में पूछा था, वह तत्तापानी चला गया है।"

"तुम नहीं जा रहे तत्तापानी ? यहाँ तीन दिन क्या करोगे ?" सत्या ने पूछा।

"चला तो जाऊँ, पर अकेले जाने को मन नहीं कर रहा। जगदीश के साथ चला जाता, पर उसने एक बार भी चलने को नहीं कहा। वह शायद बीवी के साथ अकेला अकेला ही जाना चाह रहा था।" सुरेन्द्र मुस्करा दिया।

"तुम भी चले जाओ, करुणा को भी लेते

जाओ—वह यहाँ उदास हो रही है। क्यों करुणा, इतना चल भी सकोगी?"

"क्यों नहीं! आपने क्या समझा है मुझको?"

"तो फिर कल चली जाओ—आज तो देर हो गई है—अब तो जाना मुश्किल है।"

करुणा के चेहरे पर आनन्द की एक लहर दौड़ गई। वह शिमला सैर करने आई थी, परन्तु सत्या के बीमार पड़ जाने के कारण अपना मन मारकर घर पर ही बैठ गई थी। अब जब सत्या स्वयं ही उसको भेज रही थी तो उसका खुश होना स्वाभाविक था। उसने अपनी मुस्कराहट दबाने का असफल प्रयत्न करते हुए सत्या की कपोलों पर अपने हाथ रख दिये और कहा,—"पर तुम यहाँ अकेली रह जाओगी।"

"तो क्या हुआ, दो दिन की तो बात है...कल शाम तक ज़रूर वहाँ पहुँच जाना" उसने सुरेन्द्र से कहा, "और जहाँ जगदीश और कान्ता ठहरे हों, वहीं ठहरना। मैं इसी शर्त पर करुणा को भेज रही हूँ।"

"अच्छा। तत्तापानी छोटी सी जगह है। ठहरने की वहाँ दो ही जगहें, हैं, एक सराय और एक मन्दिर। हम ढूँढ़ लेंगे उनको।...अच्छा तो अब मैं जाता हूँ—कल के लिए कुछ चीजें ठीक ठाक कर लूं। कल सात बजे तैयार रहना, करुणा—सत्ताइस माल का रास्ता है!"

४.

जगदीश जब तत्तापानी की सराय पर पहुँचा तो प्रौढ़ा पहाड़िन रखवालिन ने बताया कि सराय के सब कमरे भर चुके हैं, और वह उसको ठहराने में असमर्थ है। "आप माई जी के साथ हो, नहीं तो मैं आपको यहीं बरामदे में चारपाई दे देती। आप आगे जाओ, बाबूजी, आगे देवता का मन्दिर है, वहाँ कमरा मिल जायगा।"

जगदीश स्वयं इतनी भीड़ में नहीं ठहरना चाहता था, यद्यपि यह स्थान उसके उद्देश्य के लिए सर्वोत्तम था, परन्तु वह कुछ निराश अवश्य हुआ। सराय सतलज नदी की तेज़ धारा के बिलकुल समीप थी। सामने तार का पुल था, जिसके कई तख्ते निकले हुए थे। अन्धेरे में यदि किसी का पैर अटक जाता तो उसका नदी में जा गिरना कोई असाधारण बात नहीं होती। नीचे पानी का वेग इतना तीव्र था कि अच्छे से अच्छा तैराक भी कठिनाई से ही बच सकता था। किनारे बिलकुल सीधी चट्टानों के थे जिनपर कोई नहीं चढ़ सकता था। यदि कोई व्यक्ति दुर्भाग्यवश पुल पर से गिर पड़ता तो किनारों पर से चढ़ कर ऊपर आने में असमर्थ होता। किसी लड़की का पानी में से बच निकलना तो असम्भव था।

स्थान उपयुक्त था। जगदीश सराय से उतर कर समीप के हलवाई की दुकान

पर गया। हलवाई ने बताया कि पुल के पार दो कोठरियाँ खाली पड़ी हैं। अभी पूरी बनी भी नहीं हैं—पर अगर आप चाहें तो मैं वहां चारपाई भिजवा दूँ।

बाहर से ही कोठरियाँ देखकर कान्ता बोली—"भई, यहां नहीं ठहर सकते, यह बहुत ही गन्दी जगह है। यहां ज़रूर सांप-बिच्छू होंगे।"

अभी सूर्यास्त नहीं हुआ था परन्तु कोठरी में बिलकुल अन्धेरा था। जगदीश ने दीवार पर टार्च फेंकी। रोशनी पड़ते ही तीन चार बड़ी बड़ी छिपकलियां छत की ओर भागीं। छत पर से अनेक मकड़ियों के जाले लटक रहे थे।

जगदीश ने शीघ्र ही टार्च बुझा दी। वह जानता था कि कान्ता छिपकलियों और मकड़ियों से कितना डरती है। वह बोला—"जगह अच्छी तो नहीं है पर अब क्या हो सकता है। यहीं ठहर जायँ - कल सराय में कोई न कोई कमरा खाली हो जायगा।"

"नहीं भई, यहां ठहरने को मेरा बिलकुल मन नहीं कर रहा। यहां ज़रूर सांप होंगे।" कान्ता कोठरी से बाहर निकल आई।

"डरने की क्या बात है? कोई नीचे थोड़े ही सोना है! मैं हलवाई से चारपाई ले आता हूँ। कहीं ऐसा न हो कि हम उस मन्दिर पर जायँ और वहां भी जगह न निकले। फिर तो यह कोठरी भी भर जायगी।"

कान्ता इसका कोई उत्तर न दे सकी। अपना मन मार कर उसने अनुमति दे दी।

"अच्छा, सामान यहां रख देते हैं—पर नदी के किनारे चलो, शायद मन्दिर में जगह हो।"

जगदीश ने अपनी पीठ से थैला उतारा और नीचे रख दिया। पुल पार कर वह हलवाई की दुकान से चारपाई लिवा लाया और उसपर थैला खोल कर चीजें बिछाने लगा।

"यह ढोते-ढोते मैं बहुत थक गया हूँ। मेरे ख्याल में अब खाना खाकर सो जायँ। कल देखा जायगा।"

"मैं तुमसे ज्यादा थकी हुई हूँ। ऐसे खराब रास्ते से तुम लाये हो कि मुझसे खड़ा भी नहीं रहा जाता।"

"आओ, थोड़ी देर आराम कर लें।" जगदीश कान्ता का हाथ पकड़ कर उसे कोठरी में ले गया। दोनों जने एक ही चारपाई पर पड़ गये।

कान्ता ने अपना सिर जगदीश की छाती पर रख दिया और उसके साथ जुड़ कर लेट गई। पहाड़ी रास्ते पर इतना चल कर वह वास्तव में बहुत अधिक थक गई थी, परन्तु इस समय वह एक अभूतपूर्व उल्लास का अनुभव कर रही थी। उसके हृदय में जगदीश के प्रति अगाध प्रेम उमड़ रहा था। वह मुस्कराते हुए धीरे-धीरे फिल्मी गाना गुनगुनाने लगी—"एक हम हों और एक तुम हो—नदी का किनारा हो···।"

परन्तु जगदीश के मनोभाव इस समय इस छेड़छाड़ से बहुत दूर थे, उसकी आँखों के सामने परसों का वह दृश्य घूम रहा था जब उसने अपने दोनों हाथ पलंग पर लेटी हुई सत्या के कपोलों पर रख कर और पीछे से उसके ऊपर झुक कर धीरे से सत्या के ओंठ चूम लिये थे। सत्या की लुभावनी सूरत उसकी आँखों के सामने नाच रही थी। वह उसे पाकर ही रहेगा, चाहे उसे कुछ करना पड़े!

सूर्यास्त हो चुका था। जगदीश ने घड़ी देखी। छः बजे थे। आकाश में बादल घिर आये थे और दूर कहीं बिजली कड़क रही थी। शायद तूफ़ान आ रहा था। उसने सोचा, चलो यह भी अच्छा है—बारिश में किसी के बाहर होने की सम्भावना नहीं होगी। प्रकृति भी उसका साथ दे रही है। अभी थोड़ी देर में दोनों उस छोटे से पुल के पार जायँगे, हलवाई की दुकान पर। खाना खाते खाते बिलकुल अन्धेरा हो जायगा। और फिर कान्ता इतनी थकी हुई है, शीघ्र ही सो जायगी। वह उसे कुछ देर बाद उठा कर दवाई के बहाने 'साइनाइड' खिला देगा। असर होने में अधिक से अधिक एक घण्टा लगेगा। पुल के नीचे सतलज की धारा गरजती हुई बह रही थी। वह रात में कान्ता की धोती में पत्थर बाँध कर उसको नदी में फेंक देगा। पानी गहरा था—और ऐसे स्थान पर कोई डुबकी भी नहीं लगा सकता था। कान्ता की लाश को निकालना असम्भव होगा। किसी को सन्देह हुआ भी तो प्रमाण पाना असम्भव था, भले ही पुलिस आकर छान बीन करे। वह लौट कर कह देगा कि दुर्भाग्यवश कान्ता नहाते नहाते बह गई और बहुत चेष्टा करने पर भी न बच सकी। उसकी लाश तक न मिली। फिर उसके और सत्या के बीच में कोई रुकावट न होगी। सत्या की लुभावनी सूरत उसकी आँखों के सामने फिर छा गई।

जगदीश ने सन्तोष की एक गहरी साँस ली।

"उठो, कान्ता, चलो कुछ खालें। सो जायँगे। गन्धक के चश्मे पर कल चलेंगे - अब अन्धेरा हो रहा है।"

कान्ता उठी—"यहाँ मुझको अच्छा नहीं लग रहा। बड़ी खराब जगह पर रुके हो।"

"कल सब ठीक हो जायगा —चलो, हलवाई की दुकान पर चलें।"

दोनों हलवाई के यहाँ पहुँचे और पूरियाँ बनवा कर खाने लगे। खा-पीकर जब वह उठे तो पीछे से किसी ने पुकारा, "अरे जगदीश! कान्ता!......"

जगदीश चौंक कर मुड़ा। पीछे से सुरेन्द्र और करुणा आ रहे थे।

"इधर वापस कहाँ जा रहे हो पुल के पार? कहाँ ठहरे हो?" सुरेन्द्र ने समीप आकर पूछा।

(शेष पृष्ठ ९६ पर)

पच्चीस बैसाख

कवीन्द्र रवीन्द्र

[जन्मदिन पर लिखी कविता]

पच्चीस बैसाख चला है
जन्मदिन की धारा को लेकर
मृत्यु - दिन की ओर।
उस चलते हुए आसन के ऊपर बैठ कर
कौन कलाकार गूँथ रहा है
छोटी-छोटी जन्म-मृत्यु की सीमाओं के अन्दर
नाना रवीन्द्रनाथों की एक माला।
रथ पर चढ़ कर चला जा रहा है काल;
पैदल यात्री चलते - चलते
अपना प्याला उठाता है,
उसमें पाता है कुछ पीने की चीज़—
पीना खत्म होते न होते
वह पीछे पड़ जाता है अन्धकार में;
उसका टूटा प्याला धूल में मिल जाता है।
उसके पीछे-पीछे
नया प्याला लेकर जो दौड़ पड़ता है
पाता वह नया रस;
एक ही उसका नाम
लेकिन, मालूम होता है, जैसे वह दूसरा आदमी हो।

एक दिन मैं बच्चा था।
कई जन्म-दिनों के उत्सवों के बीच
जिस आदमी की मूर्त्ति गढ़ी गई उन दिनों,

तुममें से कोई उसे नहीं जानता।
वह सत्य था जिनकी जानकारी में
उनमें कोई नहीं रह गया।
वह बालक न रह गया अपने रूप में
न रह गया किसी की याद में।
वह चला गया अपना छोटा-सा संसार लेकर :
उसके उन दिनों के हास्य-रुदन की प्रतिध्वनि भी
हवा में नहीं है।
उसके टूटे खिलौने के टुकड़े भी
धूल पर नहीं दिखाई पड़ते।
उन दिनों, जिन्दगी की छोटी खिड़की के नजदीक,
वह बैठा रहता बाहर की दुनिया देखते।
उसकी दुनिया थी
उस छोटे से छेद के घेरे के अन्दर ही अन्दर।
उसकी अबोध आँखों का वह देखना
रुक जाता बगीचे की चहारदीवारी से
नारियल के पेड़ों की पंक्ति से।
संध्या की बेला परियों की कहानी के रस में डूब जाती;
विश्वास - अविश्वास के बीच
कोई ऊँची दीवार नहीं थी,
मन इस ओर से उस ओर
उछल जाता आसानी से।

रात के प्रकाश-अँधकार में
चीजों के साथ उनकी छाया भी जुड़ी हुई थी,
जैसे दोनों एक गोत्र के हों।
उन कई दिनों का जन्मदिन
एक टापू की तरह था,
कुछ समय तक वह रोशनी में रह कर
अब काल-समुद्र में डूब चुका है।

भाटे के समय, कभी-कभी,
दिखाई पड़ती हैं उसके पहाड़ों की चोटियाँ,
दिखाई पड़ती हैं उसकी मूँगे की लाल तट-रेखायें।
पच्चीस बैसाख फिर दिखाई पड़ा
एक ज़माने के बाद
फाल्गुन की ऊषा में—
रंगीन चमक की धूपछाँह में।
तरुण यौवन का विरही गायक
अपने एकतारा के सुरों को बाँधकर
घूमा दिया पुकारता हुआ
निरुद्देश्य मन के मानव को
अनिर्देश्य वेदना के पागल सुर में।
उस सुर को सुन कर किसी-किसी दिन शायद
वैकुंठ में लक्ष्मी का आसन डोल गया था;
उन्होंने भेजा था
अपनी किसी-किसी दूती को
पलाश-बन के रंग में पागल बने छाया-पथ से,
कामधंधे भुलनेवाली सुबह-शाम को।
तब कानों-कानों सुनी थी उनके मधुर गले की मीठी बातें,
कुछ समझ में आती थीं, कुछ नहीं।
देखा था काली बरौनियों पर
जल का आभास;
देखी थी काँपते अधरों पर निमीलित वाणी की वेदना।
सुनी थी कंगनों की कन-कन ध्वनि में
चंचल आग्रह की चकित झंकार।
वे रख गईं मेरे अनजाने ही
पच्चीस बैसाख की
पहली नींद-टूटी भोर में
नये चटखे बेले की फूलमाला:
भोर का सपना

उसकी गंध से विह्वल बना था।

उन दिनों के जन्मदिन का किशोर-जगत
परियों की कहानी के गाँव से सटा हुआ था
जाने-अनजाने के संशय में।

वहाँ राजा की बेटी खुले बालों के आवरण में
सोती थी कभी

या कभी जग पड़ती थी चौंक कर
सोने की लकड़ी के स्पर्श से।

दिन बीते।
उस बसंती रंग के पच्चीस बैसाख की
रंगीन दीवारें
ढह पड़ीं।

जिस पगडंडी पर मौलश्री के वन के पत्तों के हिलने से
छाया काँपने लगती,
हवा मरमर कर उठती,
विरही कोयल की कुहू-कुहू की पुकार से
दुपहरिया व्याकुल हो उठती,
मधुमखियों के डैने गुंजन करने लगते
फूलों की गंध का अदृश्य ईशारा पाकर—
वही तृणों से बिछी बीथिका
अब आ लगी पथरीले राजपथ पर।
उस दिन के उस किशोर ने
जिस एकतारा पर सुर की साधना की थी,
एक-एक कर उस पर चढ़ा दिये
तार पर नये तार।
उस दिन पच्चीस बैसाख
मुझे पुकार कर लाया
नीची-ऊँची, खुरदरी, राह से
तरंगों से हा-हा करते जन-समुद्र के तट पर।

बेला, अबेला
ध्वनि-ध्वनि से बुन कर
जाल फेंका बीच दरिया में
कोई मछली पकड़ गई
कोई टूटे जाल के भीतर से
भाग भी गई।
कभी दिन आया मलिन होकर,
साधना में मिली निराशा,
ग्लानि के बोझ से मन झुक गया।
इसी समय अवसाद के अपराह्न में
अप्रत्याशित पथ से आई
अमरावती की मर्त्य प्रतिमा;
सेवा को जो सुन्दर बना देती है
तपस्या से थके के लिए
जो लाती है अमृत का प्याला;
डर को अपमानित करती है
चंचल हँसी की सुन्दर तरंगों में;
जो जगा देती है दुस्साहस की शिखा
राख से ढँके अंगार में;
आकाशवाणी को पुकार लाती है
प्रकाश की तपस्या में।
उसने मेरे बुझे हुए दीप की शिखा को
फिर जला दिया,
ढीले पड़े तार में
फिर बाँध दिया सुर।
पच्चीस बैसाख को
वरमाला पहना दी उसने
अपने हाथ से गूँथ कर।
उसके उस पारस-मणि का स्पर्श
आज भी है

मेरे गान में, मेरी वाणी में।
उस दिन जीवन के रणक्षेत्र में
दिशा-दिशा में जग उठा था संग्राम का संघात
उमड़ते-घुमड़ते बादल की गरज में।
एकतारा फेंककर कभी लेनी पड़ी भेरी
चिलचिलाती दुपहरिया में
दौड़ना पड़ा
जय-पराजय के भँवर में।
पैर में काँटे बिंधे थे,
घायल छाती पर खून की धारा थी।
निर्मम कठोरता मार रही थी ठेह
मेरी नाव के दायें-बायें,
जिन्दगी के सौदे को डुबो देना चाहती थी
निन्दा के नीचे, कीचड़ के तले।

विद्वेष में अनुराग में
ईर्षा में, मैत्री में
संगीत में, कोलाहल में
उसांसों के गरम-गरम, आलोड़ित वाष्प होकर
मेरा संसार चला गया है अपने कक्षापथ से।
इस दुर्गम में, इस विरोध-संक्षोभ के बीच
पचीस बैसाख के प्रौढ़ प्रहर में
तुमलोग आये हो मेरे निकट।
जानते हो क्या
मेरे प्रकाश की किरणों में
अभी बहुत-सी खत्म नहीं हुईं,
बहुत-सी छिन्न-भिन्न पड़ी हुई हैं,
अरे, बहुत-सी उपेक्षित ही रहीं!
भीतर बाहर,
उन्हीं अच्छे-बुरे

स्पष्ट - अस्पष्ट
ख्यात - अख्यात
व्यर्थ चरितार्थ के जटिल सम्मिश्रणों के बीच से
मेरी जो मूर्त्ति
तुम्हारी श्रद्धा से, तुम्हारे प्रेम से,
तुम्हारी क्षमा से
आज प्रतिफलित है;
आज जिसके सामने लाये हो तुम लोग यह माला;
उसीको अपने पचीस बैसाख की
शेषबेला का परिचय मानकर
मैं स्वीकार करता हूँ
और रखे जाता हूँ तुम लोगों के लिए
अपना आशीर्वाद ।

जाते समय यही मानसी मूर्त्ति
तुम लोगों के हृदय में रही—
काल के हाथ में भी रही,
यह कहकर अहंकार नहीं करूँगा ।

इसके बाद मुझे छुट्टी दो
कि मैं जाऊँ
ज़िन्दगी के स्याह-सुफ़ेद डोरे से बुने
सभी परिचयों के पर्दे की ओट में,
निर्जन, नामहीन कोने में,
और वहाँ नाना सुरों के नाना तार वाले यंत्र से
अपना सुर मिलाऊँ
एक चरम संगीत की गम्भीरता में ।

भग्न रागिनी

श्री जगदीशचन्द्र माथुर

[तृतीय अङ्क]

[मन्दिर के गर्भगृह से सटा हुआ अन्तराल। समय—रात्रि का दूसरा प्रहर। गर्भगृह के कपाट ठीक बीच में हैं और बंद हैं; दीपक के मंद प्रकाश में कपाट पर अंकित बारीक नक्काशी चाँदनी से अठखेलियाँ करनेवाले कुसुम-वृंत सी जान पड़ती है। किन्तु म्लान-मना अँधकार से आच्छन्न अंतराल के क्रोड़ में वह चाँदनी सहम रही है।

क्लान्त कोलाहल झपकियाँ ले रहा है, किन्तु जब-तब स्तब्ध सरोवर को चलायमान करनेवाले पतित पल्लवों की भाँति अस्पष्ट ध्वनियाँ दूर नेपथ्य से सुन पड़ती हैं।

बाँयी ओर एक चौकी पर तोषक के सहारे, मूर्छावस्था में धर्मपद। उत्तरीय पर रक्त, माथे पर पट्टी। आधा बदन चादर से ढँका है।

पार्श्व में मुकुन्द बैठे हुए, व्यग्र मुद्रा से उसके हाथों को सहला रहा है; निकट ही के जलपात्र में से पानी लेकर कभी-कभी धर्मपद के मुखपर छींटे मारता है।

विवश उन्माद के मूर्तिमान स्वरूप विशु का प्रवेश।]

विशु (*भग्न स्वर*) मैं आशा छोड़ दूँ, मुकुन्द?

मुकुन्द—तुम आपे में नहीं हो, विशु! स्थिर होकर बैठो।

विशु—रक्त बन्द हुआ?

मुकुन्द—हाँ

विशु—(*सावेग*) मुकुन्द, उसे होश में लाना होगा, लाना होगा।

मुकुन्द—श्श...श्श। धीरे बोलो! (*धर्मपद के मुँह पर जल छिड़कता है।*) धीरे ..धीरे।

विशु—(*दबी आवाज में*) नेत्र खुल रहे हैं क्या?

मुकुन्द—जान तो यही पड़ता है। (*और जल छिड़कता है। धर्मपद का शरीर किंचित हिलता प्रतीत होता है।*) धर्मपद! (*चेतना का आभास। मुकुन्द विशु की ओर देखता है।*) विशु, तुम कुछ समय के लिए मौन रहो!...सामने नहीं, उधर हटकर खड़े हो जाओ। (*धर्मपद से*) ....धर्मपद।

धर्मपद—मैं...मैं...कहाँ हूँ?

मुकुन्द—देवमूर्त्ति के निकट अंतराल में।...चित्त कैसा है?

धर्मपद—कौन!...आर्य मुकुन्द?.... (*पुनः मूर्छना के चिह्न! मुकुन्द तकिये के सहारे धर्मपद के सिर को कुछ ऊँचा कर देता है और फिर जल छिड़कता है। थोड़ी देर बाद धर्मपद पहले से अधिक चैतन्य जान पड़ता है।*)

मुकुन्द—चित्त कैसा है?

धर्मपद—(*मंद-स्वर*) ठीक हूं, आर्य। .. मुझे, दुर्गपति को मूर्छित होने का... कोई अधिकार नहीं था।...थोड़ा जल!

मुकुन्द—(*जल देते हुए*) तुमने तो अनेकों घाव झेले। मस्तक पर वाण लगने पर ही तो तुम मूर्छित हुए। लेकिन तुम्हारी मूर्छा ने ही शिल्पियों में बिजली दौड़ा दी और शत्रु को रुक जाना पड़ा।

धर्मपद—और महाराज?...(*सहसा*) ...शीघ्र बताइये, आर्य! महाराज निरापद हैं?

मुकुन्द—तुम्हारे गिरने के थोड़ी ही देर बाद अँधेरा हो गया और महाराज समुद्र तट पर पहुँच गये। तुरंत ही नौका छोड़ दी गई।

धर्मपद—अब मैं.. संतुष्ट हूँ आर्य मुकुन्द!

मुकुन्द—यह तुम्हारे ही पराक्रम का फल है, धर्मपद! तुम्हारी संगठन शक्ति के कारण हम मुट्ठी भर लोगों ने उस बलशाली सेना को इतनी देर तक रोक रखा। एक-एक शिल्पी पाँच-पाँच सैनिकों के तुल्य था।

धर्मपद—आर्य..अनेक शिल्पी मारे गये!

मुकुन्द—हाँ, घायलों की भी काफी संख्या है। और बाकी लोग इतने थके हुए हैं कि यदि रात में युद्ध करना पड़ता तो सब गिर जाते।

धर्मपद—रात्रि...में...तो युद्ध वर्जित है, पर हमलोगों को सावधान रहना है।

मुकुन्द—अभी तक तो सब तरफ शान्ति है। शत्रु-सेना भोजनादि में लगी है। कल प्रातः वे लोग बहुत जोर से आक्रमण करेंगे।

धर्मपद—तब.. तक.. तो महाराज...

मुकुन्द—हाँ, मुझे पूरी आशा है कि

रात ही रात में हमारे महाराज श्री जगन्नाथपुरी से अश्वारोहियों के दल को तैयार करके सूर्योदय होते ही चालुक्य के दल पर पीछे से आक्रमण कर देंगे। कल सुबह तुम्हारे भीषण प्रयत्न का पुरस्कार मिल जायगा, धर्मपद !

धर्मपद—*(म्लान हँसी के साथ)* कल सुबह !....क्या मैं कल की सुबह देख भी सकूँगा, आर्य ?

मुकुन्द—*(उद्विग्न स्वर में)* क्या कहते हो, धर्मपद ! अब तो रक्त भी नहीं बह रहा !

धर्मपद—*(रुक कर)* मुझे कुछ अजब-सा लगता है। अन्दर से पुरानी बातों का बादल सा उमड़ा पड़ता है।...आर्य, कल आप और आचार्य विशु ही सम्हालियेगा सब शिल्पियों को। मैं...*(अपनी छाती पर कुछ टटोलता है और सहसा रुक जाता है।)*

मुकुन्द आचार्य विशु यहीं हैं ... *(इशारा करता है। विशु, जो अब-तक बेताबी से सब कुछ सुन रहा था, आगे बढ़ता है। पर धर्मपद की व्यग्र मुद्रा देख कर रुक जाता है।)*

धर्मपद—*(व्यथित स्वर में)* आर्य मुकुन्द...आर्य मुकुन्द...क्या आपने उसे देखा है ?

मुकुन्द—क्या ?

धर्मपद—यहाँ...कपड़ों के नीचे, ठीक हृदय के उपर मेरे गले से एक माला लटकी थी। कपड़ों के नीचे मिल नहीं रही आर्य ! वह मेरी बहुत प्यारी निधि है, बहुत प्यारी।

विशु—*(आगे बढ़ता हुआ)* वह मेरे पास है, धर्मपद ! *(जेब से एक काले डोरे की माला निकालता है जिसके बीच में एक रत्न और मणि जटित कंकण लटका है।)* यही न ?

धर्मपद—*(उत्सुक)* हाँ, हाँ यही... यही...आपको कहाँ मिली, आचार्य ?

विशु—जब तुम मूर्छित हुए तभी यह गिर पड़ी थी। मैंने उठा लिया।

धर्मपद—बड़ी कृपा की आचार्य ! अगर यह खो जाती तो मुझे बड़ी पीड़ा होती।

विशु—*(निकट आते हुए)* क्यों धर्मपद ? *(उसके हाथ में देता है।)*

धर्मपद—*(मानों नेत्रों में ज्योति आयी हो)* आचार्य...यह माला नहीं है। इसके बीच में जो यह कंकण है न ...यह...यह मेरी माँ का है।

विशु—*(तीव्र भावावेश को रोकता हुआ)* कहाँ हैं तुम्हारी माँ, धर्मपद ?

धर्मपद—मेरी माँ ? आचार्य, मेरी माँ तो अब नहीं हैं। *(मर्माहत हो विशु पीछे को हट जाता है, धर्मपद की दृष्टि के परे)*

मुकुन्द—*(विशु से भर्त्सनापूर्ण किन्तु मंद स्वर में)* विशु !

धर्मपद—तभी उसके दिये हुए उपहार

को हृदय से लगाये फिरता हूँ। मृत्यु से पहले उसने मुझ से यह पकड़ाया और कहा कि मेरे पिता की देन है।

विशु—(*उन्मद स्वर*) पिता, पिता!

धर्मपद—जिस पिता की बात उसने कभी पहले मुझसे न छेड़ी थी, पहली बार और अंतिम बार तभी उनका नाम लिया था मेरी माँ ने!

मुकुन्द—तुम थक तो नहीं रहे हो, धर्मा?

धर्मपद—(*अनसुनी करके ऐसे स्वर में मानो अनायास ही कोई कहानी याद आयी हो*) कैसी अद्भुत थी मेरी माँ!... आँधियों के निर्दय झकझोर से भी न झुकनेवाली तालवृक्ष की तरह। मुझे गोदी लिए बहुत पहले जब वह नगर में आयी तो कौन उसका सहायक था? मज़दूरी करके, ग़रीबी के कष्ट और वैभव के अपमान सहकर उसने मुझे पाला।

मुकुन्द—याद है तुम्हें, कहाँ से तुम लोग नगर में आये थे?

धर्मपद—शवर अटीविका से।...माँ ने बहुत कुछ बताया पर सब कुछ नहीं। उसने मुझे वह शक्ति दी जिसके बल पर नन्हा बीज धरती को फोड़ कर नये जीवन का प्रतीक बनता है। उसने मुझे आँचल से ढँका भी और छुड़ाया भी। उसकी ओजमयी वाणी मेरे कानों में गूँज रही है—आप सुन पाते हैं आर्य?

विशु—(*रुँधे कण्ठ से*) मैं सुन पा रहा हूँ (*विशु शय्या के निकट आता है!*)

धर्मपद—आचार्य विशु!

विशु—(*धर्मपद के हाथ को अपने चेहरे में दबाता हुआ व्यथित और रुदनपूर्ण स्वर में*) धर्मा, मेरे बच्चे, मेरे बेटे! (*रुदन*)

धर्मपद—(*अपना हाथ खींचते हुए*) आप रो रहे हैं, आचार्य?

मुकुन्द—धर्मपद, आचार्य विशु ही तुम्हारे पिता हैं। इस कंकण में एक रत्न पर कामदेव की जो मूर्ति अंकित है, वह इन्हीं के हाथ की बनायी हुई है।

धर्मपद—क्या!...आचार्य मेरे पिता। (*कंकण को हाथ में लेकर देखता है*) मेरे पिता...पर (*जैसे कुछ याद आया हो*) मेरे पिता का नाम तो...

विशु—तुम्हारे पिता का नाम था श्रीधर?

धर्मपद—हाँ, हाँ; यही नाम मेरी माँ ने बताया था।

विशु—वह अभागा श्रीधर मैं ही हूँ।...विशु तो मेरा छद्मनाम है, जो मैंने शवर अटीविका से भाग आने पर रख लिया था। मैं ही वह श्रीधर हूँ जिसके कारण तुम्हारी माँ चन्द्रलेखा को इतने कष्ट उठाने पड़े। मैं ही वह कठोर, पापी, निर्दय तुम्हारा पिता हूँ जिसने...

धर्मपद—उफ..मेरा सिर चक्कर खा रहा है..... (*विशु उसके माथे पर*

हमारे शिल्पी या तो घायल हैं या इतने थके हुए कि शत्रुदल के बढ़ जाने पर सामना नहीं कर सकेंगे। राजीव अकेला कुछ मुट्ठी भर शिल्पियों को साथ लेकर रोकने की चेष्टा कर रहा है। पर सब व्यर्थ है।

विशु—अब क्या होगा? क्या होगा मुकुन्द?

मुकुन्द—महाविनाश का आह्वान।

विशु—ओह, धर्मा! धर्मा को बचाना होगा, बचाना होगा।

धर्मपद—मुझे बचाने की चिन्ता न कीजिये, आर्य! मुझे संध्या की वे ही किरणें बुला रही हैं। लेकिन सुनिये। एक बार मंदिर पर अधिकार कर लेने पर चालुक्य की शक्ति को कोई नहीं रोक सकता। महाराज नरसिंह देव की चेष्टाएँ विफल हो जायँगी। सबेरे ही चालुक्य पुरी के लिए कूच कर देगा। और फिर उस अत्याचारी के आगे कोई नहीं ठहर सकेगा, कोई नहीं।

मुकुन्द—विशु, सुना तुमने? वे लोग आगे बढ रहे हैं *(हजारों मजदूर और शिल्पी 'विशु', 'विशु' पुकार रहे हैं)* तुम क्या सोच रहे हो?

विशु—मुकुन्द, क्या किसी तरह धर्मा को बचाया नहीं जा सकता? मैं चालुक्य के आगे भीख माँगूगा, मेरे बेटे के प्राण······

धर्मपद—*(मर्माहत हो उठ बैठता है, चेहरा तमतमा रहा है)* आप मेरा अपमान कर रहे हैं।

मुकुन्द—धर्मा, धर्मा! तुम लेटे रहो नहीं तो फिर रक्त बह निकलेगा।

धर्मपद—बहने दीजिये। मैं लेटे रहना नहीं चाहता। *(बाहर कोलाहल)* वह सुनिये, मृत्यु की फैलती छाया में अत्याचारी से जूझने वाले वीरों की पुकार सुनिये! क्या मैं उसे अनसुनी कर दूँ? *(खड़ा हो जाता है और पास में रखे हुए भाले को उठाता है)* उन्हें मेरी जरूरत है। शीतल होती हुई यज्ञ की अग्नि में एक बार फिर से आहुति की आवश्यकता है—शायद वह अंतिम आहुति हो। *(चलने को उद्यत)*

विशु—*(आर्त्त स्वर में)* तुम जा रहे हो पुत्र?

धर्मपद—हाँ, मैं जा रहा हूँ। जिस नीच से आप भीख माँगते, मैं उसे भीख दूँगा, अपने प्राणों की भीख। आर्य मैं जानता हूँ—आप कायर नहीं हैं, पर मेरा मोह आपको दुर्बल बना रहा है। आर्य, जाते-जाते आपको याद दिलाऊँ कि आप पिता होने के पूर्व शिल्पी हैं, कारीगर हैं।······आज शिल्पी पर अत्याचार का प्रहार हो रहा है। कला पर मदान्धता टूट पड़ी है। सौन्दर्य को सत्ता पैरों के तले रौंद रही है। और कोणार्क—आपका सुनहरा सपना, जिस घोसले में आपके अरमानों का पंछी बसेरा लेने जा रहा था—वही कोणार्क एक पामर पापी, अत्याचारी के हाथ का खिलौना बन जायगा। आतंक के हाथों में जकड़ी हुई कला सिसकेगी,

वही कारीगर की सबसे बड़ी हार होगी, सबसे भारी हार। (*प्रस्थान। कुछ देर शांति*)

मुकुन्द—(*कन्धे पर हाथ रखते हुए*) विशु, विशु!

विशु—(*हतबुद्धि सा*) कारीगर की हार। कोणार्क आतंकी के हाथ का खिलौना!

मुकुन्द—(*बाहर कोलाहल सुनकर*) जान पड़ता है—धर्मपद संग्राम में कूद पड़ा है। लेकिन कितनी देर के लिए! वे लोग आगे बढ़ रहे हैं। विशु मैं जाता हूँ। देखूँ, शायद उसे बचा सकूँ। (*प्रस्थान*)

विशु—(*वही मुद्रा—कभी बैठता है, कभी घूमता है। बाहरी हलचल की उन्मत्त लहरें उसे छू नहीं पा रही हैं*) कोणार्क—मेरी निधि,··· कोणार्क—मेरी सृष्टि···अपावन हाथों में, भ्रष्ट हाथों में? यह कैसा अभिशाप? ओ अभागे कारीगर, कहाँ है तेरा गौरव, कहाँ है तेरी मौन तपस्या का पुरस्कार?···(*पुनः चुप। दूर नेपथ्य में कोलाहल बढ़ रहा है।*) ·· कारीगर की हार।······ऐं······(*उठ खड़ा होता है*) असंभव, कोणार्क शिल्पी की पराजय का प्रतीक नहीं रहेगा। (*तेजी के साथ गर्भगृह के कपाट खोलता है। सूर्य देवता की मूर्ति कक्ष के बीज से पाँच हाथ ऊपर निराधार स्थित है। जाज्वल्यमान मस्तक और मुकुट। बाकी कक्ष में घना अन्धकार।*)

विशु—(*साष्टांग अवस्था में रुँधे गले से*) हे सूर्य भगवान, हे भुवन भास्कर! बारह बरस तक दत्तचित्त हो मैंने तुम्हारे योग्य यह अभूतपूर्व गृह तैयार किया। आज जब उस लगन और तपस्या के बाद तुम्हारी उपासना का अवसर आया, तो तुम्हारे शिल्पी को ठुकराने वाले, उनके निर्दोष रक्त से रँगे हाथ तुम्हें अपनाने आ रहे हैं। भगवन्, मैं यह कैसे सह सकता हूँ? तुम मेरे सारे जगत के प्रतिपालक हो पर मैं यह कैसे भूल सकता हूँ कि मैं तुम्हार निर्माता हूँ। (*मस्तक उठाता है। हमें उसके चेहरे का पार्श्व अंश ही दीखता है*) तुम मेरे हो, देव! तुम्हें मेरा कहना करना होगा। (*उठते हुए*) कोणार्क शिल्पी की पराजय का प्रतीक नहीं हो सकता। मैं और तुम मिलकर ऐसा नहीं होने देंगे।···नहीं (*खड़ा हो जाता है*) ठीक है न मेरे भगवान?

(*मूर्त्ति द्विगुणित भासमान जान पड़ती है। प्रकाश की एक किरण विशु के चेहरे पर भी पड़ती है। उसकी आँखें मूर्त्ति पर गड़ी हैं और फिर मानो प्रतिमा का आह्वान पाकर वह आगे बढता है—पास रखी हुई कुदाली को हाथ में ले गर्भगृह में प्रवेश कर कपाट को अन्दर से बन्द कर लेता है। प्रतिमा की ज्योति तिरोहित हो जाने से अंतराल में अब पहले की भाँति हल्का-हल्का प्रकाश है। बाहर कोला-*

हल बढ़ रहा है। पद-चाप निकट आ रही है। कुछ समय तक मंच खाली रहता है।

थोड़ी देर बाद कुछ सैनिकों के साथ राजराज चालुक्य, शैवालिक और अन्य सेनानियों का प्रवेश। सैनिक मुकुन्द को पकड़े हुए हैं।)

चालुक्य—यहाँ भी नहीं। कहाँ हैं नरसिंह देव? कहाँ है विशु?

शैवालिक—मुकुन्द, तुम झूठ बोल रहे थे?

मुकुन्द—यहीं तो विशु को छोड़ कर गया था। देखिये वह उत्तरीय। (चौकी की ओर इशारा करता है।)

चालुक्य—और नरसिंहदेव?

मुकुन्द—मुझे नहीं मालूम।

चालुक्य—देखता हूँ तुम भी उसी राह पर जाना चाहते हो जिस पर उस उदण्ड धर्मपद को भेजा गया। उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े करके इसी क्षण समुद्र में फेंके जा रहे हैं, जानते हो?

(गर्भगृह के अन्दर कुछ गिरने की आवाज़।)

शैवालिक—सुनिये देव! अन्दर कोई है। (कपाट खोलने की चेष्टा करता है)

मुकुन्द—(उच्चस्वर में) विशु!

चालुक्य—कपाट तोड़ दो! (शैवालिक खड्ग से कपाट पर प्रहार करता है।)

मुकुन्द—कपाट न तोड़िये। विशु, कपाट खोल दो। तुम क्या कर रहे हो?

(विशु की आवाज़ आती है ऊपर से—गर्भगृह और मंदिर को भेदती हुई आवाज़ मानो गहन कंदरा के अन्तरतम कोर से कोई सिंह दहाड़ रहा हो।)

विशु—बदला.....शिल्पी का बदला (विशु का अट्टहास। कपाट पर चोटें लगती हैं और वह टूट जाता है। हलचल में दीपक बुझ जाता है। केवल गर्भगृह में आँखों को चकाचौंध करने वाले प्रकाश में एक अद्‌भुत दृश्य दीखता है। सूर्य भगवान की मूर्त्ति आप ही आप हिल रही है। मंदिर की छत से कुदाली के प्रहार की आवाज़ आती है। रह-रह कर मूर्त्ति के आस-पास कुछ पाषाण चूर्ण गिर रहा है।)

शैवालिक—वह ऊपर चढ़कर शिखर पर नीचे से प्रहार कर रहा है।

एक सैनिक—मूर्त्ति हिल रही है।

मुकुन्द—विशु, तुम चुम्बक तोड़ रहे हो, देवमूर्त्ति गिर पड़ेगी।

विशु—(और तेज़ी से कुदाली चलाते हुए) हां, देवमूर्त्ति भी गिरेगी और शिखर भी। और फिर (मूर्त्ति तीव्र गति से हिलने लगती है। कुछ पाषाण खण्ड गिरते हैं) और फिर

(शेष पृष्ठ १०२ पर)
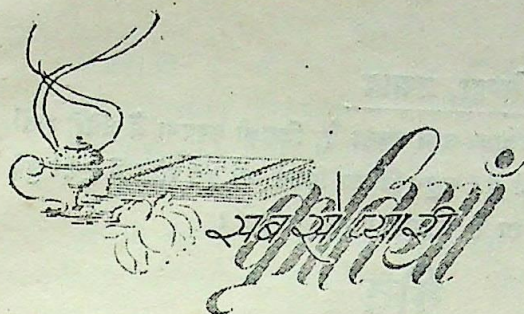
श्री जानकीवल्लभ शास्त्री, मुजफ्फरपुर

गत वर्ष 'गागर भरने की वेळा' से 'कैसे बीते रात' तक के आत्मप्रकाश में 'विराट् संगीत' कदाचित् अपने बड़े 'नाम' के कारण मेरी ओर से सर्वश्रेष्ठता का प्रामाणिक 'रूप' पा सका है।

विराट्-संगीत

(राग-शंकरा, मध्यलय, तीनताल)

प्यास तुम्हारी कण्ठ-कण्ठ में,
रूप तुम्हारा नयन-नयन में!
प्राण-पतङ्ग प्रथम मदमाते
मँडलाते कामना-अनल पर;
ऊर्ध्व श्वास से लपट उठाते,
बुझ जाते विश्वास अटल कर :—
मान-भरा बलिदान व्यर्थ है,
उच्च लक्ष्य का पंथ धँसा-सा,
यही सत्य जागरित दिवा का,
यही स्वप्न नित नैश शयन में!
प्यास तुम्हारी कण्ठ-कण्ठ में,
रूप तुम्हारा नयन-नयन में!
अभिव्यक्ति जीवन है जिसकी,
मरण उसी सत्ता की सिकुड़न;
पावस जिसका श्याम वर्ण है,
शरद उसीका उज्ज्वल दर्पण!

जाने, कैसे दृष्टि उलझती,
स्पष्ट सृष्टि के ताने-बाने,
चित्रपटी की रेखदेख पड़ती—
विचित्र वर तन्तु-चयन में!
प्यास तुम्हारी कण्ठ-कण्ठ में,
रूप तुम्हारा नयन-नयन में!
व्याप्त किए द्यावा-पृथिवी को
देव, तुम्हारा सुन्दर मन्दिर,
जिसके वातायन से छन-छन,
छनतीं पवन-तरङ्गें फिर-फिर।
सूर्य्य-चन्द्र दिपते अतन्द्र हैं,
ज्योतिर्मय अखंड दीपक-से,
पूजा-अर्चा की चिर चर्चा
कुञ्ज-कुञ्ज के कुसुम-चयन में!
प्यास तुम्हारी कण्ठ-कण्ठ में,
रूप तुम्हारा नयन-नयन में!

श्रीमती सुमित्रा कुमारी सिन्हा, उन्नाव

सपनों में मुझे कुछ ऐसा उजाला जान पड़ता है, जिसकी कल्पना मैं अंधेरी रातों में नहीं कर पाती। हर दिन की यह अनुभूति जब पिछले वर्ष इस गीत में मुखर हुई तो मुझे बहुत प्यारी लगी। आशा है आपको पसन्द आयेगी।

गीत

अँधेरी रातपर सपने नहीं आते!
निशा जब डाल तमका आवरण रोती
बिछाती दूब पर नखतों भरे मोती,
चराचर मौन हो जाता
सितारे भी नहीं गाते!
अँधेरी रात पर सपने नहीं आते!
हुईं हों मौन लहरों की तरल आहें,
गिरालीं सिन्धु ने अपनी उठी बाहें,
धरा आकाश इतनी दूर हैं
अब मिल नहीं पाते!
अँधेरी रात पर सपने नहीं आते!
तिमिर से घिर हृदय की चेतना सोई
जलधि से भर दृगों ने कल्पना खोई,
मिले कुछ शान्ति जिनसे
भाव भी अपने नहीं भाते!
अँधेरी रात पर सपने नहीं आते!

श्री धर्मवीर भारती, इलाहाबाद

पिछले साल अगहन की एक अलसाई दोपहर में लिखी गई, दिवास्वप्नों में गूँथी हुई यह कविता मुझे बहुत प्यारी लगती है और इसका सबसे बड़ा सबूत यह है कि अपने बहुत वेदना के क्षणों में मैं इसकी कुछ पंक्तियां गुनगुनाने लगता हूँ!

तुम्हारे चरण

ये शरद के चाँद से उजले धुले से पाँव,
मेरी गोद में!
ये लहर पर नाचते ताज़े कंवल की छाँव
मेरी गोद में!
दो बड़े मासूम बादल, देवताओं से लगाते दाँव
मेरी गोद में!

रसमसाती धूप का ढलता पहर
ये हवायें शाम की झुक झूम कर बिखरा गईं
रोशनी के फूल हरसिंगार से;

प्यार घायल सांप सा लेता लहर,
अर्चना के दीप-सी तुम गोद में लहरा गईं,
ज्यों झरे केसर तितलियों के परों की मार से !
सोनजूही की पंखुरियों से गुँथे, ये दो मदन के बान
मेरी गोद में !
हो गये बेहोश दो नाज़ुक मृदुल तूफ़ान,
मेरी गोद में !
ज्यों प्रणय की लोरियों की बांह में
झिलमिला कर, औ 'जला कर तन शमाएँ दो,
अब शलभ की गोद में आराम से सोई हुईं,
या फरिश्तों के परों की छांह में
दुबकी हुई, सहमी हुई हों पूर्णिमाएँ दो
देवता के अश्रु से धोई हुईं !
चुम्बनों की पाँखुरी के दो जवान गुलाब,
मेरी गोद में !
सात रंगों की महावर से रचे महताब,
मेरी गोद में !
ये बड़े सुकुमार इनसे प्यार क्या !
ये महज़ आराधना के वास्ते;
जिस तरह भटकी सुबह को रास्ते
हरदम बताये हैं रुपहरे शुक्र के नभफूल ने
ये चरण मुझको न दें अपनी दिशाएँ भूलने
ये खण्डहरों में सिसकते स्वर्ग के दो गान,
मेरी गोद में !
रश्मिपंखों पर अभी उतरे हुए वरदान
मेरी गोद में !
ये शरद के चाँद से उजले धुले से पाँव
ये लहर पर नाचते ताज़े कँवल की छाँव
दो बड़े मासूम बादल, देवताओं से लगाते दाँव,
मेरी गोद में !

[७६ का शेषांश]

जगदीश के चेहरे पर घोर निराशा छा गई थी। उससे कोई उत्तर देते न बन पड़ा। कान्ता बोली—"इस कोठरी में ठहरे हैं—और कहीं जगह ही न मिली। बड़ी खराब जगह है।" और फिर करुणा की ओर मुड़ कर, "तुम कैसे आई?"

"सत्या के कहने से आई हूँ। हम लोग सुबह चले थे।"

"यहाँ कहाँ ठहरे हो!" सुरेन्द्र ने जगदीश से पूछा—"हम लोग भी सराय में पूछने गये थे। बुढ़िया ने बताया था कि तुम भी वहाँ गये थे और कोई कमरा खाली न पाकर शायद मन्दिर की ओर गये हो। हम मन्दिर में गये। वहाँ तो कमरे मिल गये हैं। अब तुम लोगों को ढूँढ़ने निकले थे।"

जगदीश का रंग पीला पड़ गया था। उसे सत्या पर बहुत अधिक क्रोध आ रहा था। उसने बना बनाया काम बिगाड़ दिया था। ऐसा अवसर अब वह फिर कब पा सकेगा?

"आप भी वहीं चलिये, मन्दिर में—वहाँ अब भी दो कमरे खाली हैं। इन गन्दी कोठरियों में क्यों ठहरे हैं?" सुरेन्द्र ने कान्ता की ओर मुड़ कर कहा—"चलिये, आपका सामान ले चलते हैं।"

× × ×

तीन दिन बाद जब जगदीश, कान्ता, सुरेन्द्र और करुणा लौट कर शिमला पहुँचे तो करुणा को छोड़ने उसके घर तक सब लोग गये। रात हो गई थी। सत्या अपने कमरे में लेटी हुई थी। जगदीश को देख कर वह मुस्कराई। उसकी आँखों में अब भी अनुराग था और साथ ही विजय का एक भाव, जिसको देख कर जगदीश सिटपिटा गया। वह निराशा और क्रोध से जल रहा था और एक शब्द भी न बोल सका।

[पृष्ठ ६८ का शेषांश]

सोचने का अवसर नहीं मिलता कि मुझे क्या कहना है। सोचने के पहले ही भाषण शुरू कर देना पड़ता है।"

मैंने पूछा—"आजकल आप कुछ लिख रहे हैं?"

यह सुनकर वे हँस पड़े, कहा,—"हाथ से तो नहीं लिख रहा, दिलो-दिमाग से जो काम कर रहा हूँ उसे अगर लिखना कह सकें तो कह लीजिए। मगर मुझे फुरसत नहीं तो आप लोग क्यों नहीं लिखते?"

इतनी बातें हो पाई थीं कि बहुत से आदमी एकदम से आ गये। बात का सिलसिला कट गया और मौलाना किसी खास मशविरे के लिए एक कमरे की तरफ चले गये।

[पृष्ठ २२ का शेषांश]

अहंभाव का ही प्रदर्शन करते हैं।...

हिन्दी का उपन्यास-लेखक केस्लर की कृतियों से इतना भर तो सीख ही सकता है कि किस प्रकार संभावनाओं से पूर्ण रचनाएँ भी कठोर आत्म नियंत्रण की अनुपस्थिति में कला कृति के बदले प्रचार मात्र बन जाती हैं।

शब्द चित्र

निशानियाँ

श्री ओंकार नाथ शरद

यह मिरजापुर का जिला जेल!

जेल, जानवरों की श्रेणी में गिने जाने वाले, कसूरवाले कैदियों का दौलतखाना! भीतर रहने वालों की बात तो नहीं मालूम पर वे ही कैदी जब बाहर होते हैं तो मुस्कुरा कर मानो उँगली इसके फाटक की ओर दिखा कर कहते हैं—ससुराल!

पर सभी ससुराल कहने में गुदगुदी का अनुभव नहीं करते। एक श्रेणी के कैदी और हैं जो कभी जिक्र छिड़ने पर कहेंगे—कृष्ण नगर! वे इसका संबंध महाभारत युग में कंस के जेलखाने से जोड़ते हैं।

ठीक भी है, वे वहाँ तक, उतनी ऊँचाई तक सोच सकते हैं। मेरा इशारा है पढ़े-लिखे बाबुओं की ओर, जो 'सुराजी कैदी' बनते थे।

आज अचानक एक घटना घट गई। किस तरह किसीका भाग्य लौटता है, इसकी बात है।

भला सोचिए किसी जेलखाने का क्या महत्व हो सकता है। पर नहीं, आज एक रहस्य खुला है और अचानक इस जिला जेल का महत्व कई गुना बढ़ गया है।

जेल के फाटक के सामने ही बस का अड्डा है! आज जब बस रुकी तो गला तर करने को शरबत या लस्सी की तलाश में उतर पड़ा। उधर पान की छोटी-सी दूकान दिखी तो बढ़ गया। वहाँ दूकानदार के अलावा एक और व्यक्ति बैठा था। सुर्ती बना रहा था। गलमुच्छों से रोब बरस रहा था। देख कर मैंने सोचा, यह मिरजापुर! यहाँ पहलवानी का शौक साधारणतया अधिक है। शायद यह भी कोई पहलवान है। मैंने दूकानदार से शरबत बनाने को कहा और सिगरेट जलाकर बुझी हुई माचिस की सींक फेंकी, तभी मेरी नजर जेल के फाटक पर पड़ी। सफाई हो रही थी। धारीदार जांघिया-कुरता पहने कैदी बड़ी तत्परता से चूना कर रहे थे, जमीन बराबर हो रही थी। पानी का छिड़काव हो रहा था।

अचानक मैं पानवाले से पूछ बैठा—"कोई जलसा है?"

पानवाला उत्तर देता-उसके पूर्व ही वह गलमुच्छों वाला पहलवान बोल उठा—"बाबू घूरे के भी दिन लौटते हैं।"

यह कहावत मैं पहले भी सैकड़ों बार सुन चुका था। पर आज इस पहलवान के कहने में कुछ अधिक और विशेष महत्व का भास हुआ। शायद इसके तह में कोई बात हो।

मैं उस पहलवान का मुंह ताकने लगा ?

उसने शायद मुझसे कुछ सुनने की आशा रखी हो, परन्तु जब मैं मौन ही रहा तो उसने कहा,

"बाबू साहब, बाल पक गये हैं इस जेलखाने की जमादारी करते हुए।"

तो समझा कि यह इस जेल के जमादार हैं। उसने आगे कहा—

"सत्रह साल पहले एक दिन के लिए अंग्रेजी सरकार ने पण्डित जवाहर लाल नेहरू को यहां बन्द किया था। उसी कोठरी की, जिसमें वे रहे थे, मरम्मत हुई है, पक्की कर दी गई है। कल यहां प्रान्त के एक मंत्री आनेवाले हैं, इसी लिए यह सजावट हो रही है। उन्हें जवाहरलाल की वह कोठरी भी दिखाई जायगी। कौन जानता था कि उस समय का वह बाबू कैदी आज इतने बड़े सल्तनत का बादशाह हो जायगा। हमने भी एक बार उन्हें डांटा था।"

यह अन्तिम वाक्य कहते हुए पहलवान जमादार के चेहरे पर एक लज्जापूर्ण मुस्कुराहट खेल गई। वह जैसे कहने में बुरा समझ रहा हो, पर कहने की विवशता रही।

मैंने तनिक झटक कर कहा—"तो इसमें क्या खास बात है। मेरे इलाहाबाद में तो जवाहर लाल जी ने अपनी जवानी, अपनी जिन्दगी का बहुत बड़ा हिस्सा गुजारा है। वहां की एक-एक गली उनसे परिचित है, तो क्या सब जगह इसी तरह पक्की इमारत बनाई जाय।"

"लेकिन हमारे जेलखाने के लिए वह एक दिन तो जन्म-जन्म की निशानी बन गई है बाबू!" जमादार ने कहा।

मैं विवश हो उस निशानी पर सोचने लगा। एक दिन, एक निशानी! यही मनोदशा रही तो क्या एक दिन यह जेलखाना, भी बड़ा सरकारी दफ्तर बन जाय!

मैंने सिर झटक कर यह बात अपने दिमाग से फेंक निकालना चाहा। शरबत मैं पी चुका था। पैसे चुका दिये।

बस पर से मेरा सामान उतर चुका था। मैं उधर बढ़ा, तभी एक रिक्शा वाला चीख उठा—"बाबू, ले चलूँ।"

उसकी चीख ने मेरा ध्यान झकझोर दिया। मैंने गौर से देखा, जांघिया, गंजी पहने वह कलूटा सा जवान, रिक्शे की सीट पर बैठा मेरी ओर सिफारिश की निगाह से देख रहा था—उसके पीछे कई रिक्शे वाले बिल से निकल कर चींटों की तरह बढ़े आ रहे थे। उसकी चीख का यही कारण था कि मुझे कोई रिक्शावाला न बुला ले।

मैंने अपना सामान उसे बता दिया और उसने उसे रिक्शे पर लाद लिया। फिर मैं भी सवार हुआ और वह शहर की ओर चला।

सड़कें बड़ी खराब थीं। हर कदम पर रिक्शा इतनी तेजी से उछल जाता था और हमें जो धक्का लगता था उससे तबियत दुरुस्त हो जाती थी।

तभी रिक्शावाला बड़बड़ा उठा—

"क्या इंतजाम है। हर साल बारह रुपया टैक्स देता हूँ। और सड़क भी पक्की नहीं होती।"

मैंने समझा कि यह आदमी दिलचस्प है। बात को बढ़ाने के लिए मैंने कहा—"तो क्या चाहते हो कि सब काम छोड़ कर सब से पहले सड़क ही पक्की कराई जाय!"

"यह मैं नहीं कहता परन्तु जेल की कोठरियाँ पक्की कराने से ज्यादा जरूरी है सड़क पक्की कराना।"

बात ठीक थी, तर्क की गुंजाइश नहीं थी। मैंने कहा—"वह कोठरी निशानी है, एक दिन की, एक कैदी की जो बादशाह हो गया है।"

मेरी इस बात ने जैसे उसके हृदय के किसी घाव को कुरेद दिया, वह तनिक टीस के स्वर में बोला—"निशानियाँ! मेरे पास भी उससे बड़ी निशानी है। जब मैं पढ़ता था.....।"

मैंने बीच में ही टोका,—"तुम कितना पढ़े हो।"

"आठवीं क्लास में फेल हो गया था तबसे छोड़ा दिया।"

'क्यों? छोड़ा क्यों?"

"छोड़ता न तो क्या करता। उसी साल माँ मर गई। खाने का ठिकाना ही नहीं था, पढ़ता तो क्या!"

"तो और कोई काम क्यों नहीं किया? यह रिक्शा...?"

"और क्या करता? दफ्तरों में चपरासी की जगह मिलती थी। पचीस रुपये की। बाद में बरफ की दूकान रखी थी सो उधार इतना चढ़ गया कि क्या बताऊँ। अब रिक्शा में साढ़े तीन चार रुपया रोज बचा लेता हूँ। मजे से कटती है।"

"हाँ ठीक है, पर तुम्हारी निशानी?"

"हाँ एक निशानी है मेरे पास। जब मैं सातवीं क्लास में था तब एक बार प० जवाहर लाल मेरे स्कूल में आए थे। तब दस्तखत लेने की चाल थी। अट्ठारह आने की एक दस्तखत वाली कापी लेकर हमने भी उनकी दस्तखत ली थी। वह अब तक है। उस कापी में और भी नेता लोगों के दस्तखत हैं। विलायत से तीन क्रीकेट के 'चैम्पीयन प्लेयर' आये थे, उनके भी हैं। जब मैं नौकरी खोजने निकला था तब नौकरी तो नहीं मिली लेकिन एक प्रोफेसर साहब उस कापी को खरीदना चाहते थे। सौ रुपया दे रहे थे। लेकिन मैंने नहीं दी, अगर उस हस्ताक्षर की कीमत है तो शायद जवाहर लाल और बड़े आदमी हो जायँ तो और कीमत बढ़ जायगी दस्तखत की। सो इसी लिए नहीं दिया। सुना है गांधी जी की मौत के बाद उनके दस्तखत हजार-हजार रुपये के बिके हैं। सो मैं भी एक दस्तखत बचा कर, सहेज कर रखे हूँ। और अगर न भी बिकी तो एक निशानी तो है हमारे स्कूल के दिनों की।"

मैं सोचने लगा—यह भी एक निशानी

है। आज निशानियाँ बचा कर रखने का ही जमाना है।

तब तक मैं अपने मित्र के घर जिनके यहाँ जाना था, पहुँच गया। वे यों तो हमारे कालेज के साथी हैं। पहले क्या थे सो कहना या सोचना ही शर्म की बात है। बस यही समझिये कि कई महीनों हमींने अपने पैसे बचा कर उनकी फीस भरी थी पर अब वे यहाँ के मशहूर वकील हैं। कांग्रेसी हैं। दो बार जेल गये थे— अब एम० एल० ए० हैं।

उनका अब अपना एक आलीशान बँगला है। बाहर बागीचा है। फाटक पर ही रिक्शा रोक कर मैं भीतर दाखिल हुआ। बगीचे की क्यारियों से आती भीनी सुगंध ने उनके वैभव की सूचना दे दी।

थोड़ा आगे बढ़ा तब एक माली मिला। मैंने मित्र का नाम लेकर, नाम के साथ 'बाबू' शब्द जोड़ कर पूछा तो "आप बैठिए; मैं खबर करता हूँ" कह कर उसने बरामदे में पड़ी बेंत की कुर्सियों की ओर इशारा किया।

मैं पिछले साल भी आया था पर तब से अब में फर्क है। मैं बरामदे में बैठ गया और मेरे कानों में भीतर के कमरे से आते गृह-युद्ध के कुछ वाक्य पड़े और मैं सतर्क होकर सुनने लगा। मित्र की आवाज पहचान गया, जिसके साथ इतना रहा हूँ क्या उसे भी न पहचान पाता! हाँ यह दूसरी आवाज उसके पत्नी की थी।

मित्र महोदय बिगड़ रहे थे—"क्या कभी मैंने सोचा था कि यह अच्छे दिन भी आ सकते हैं? अरे बरसों में एक शाम भूखा रह कर पढ़ा था। तब कभी यह न सोचा था कि वह दिन भी आयँगे जब अपना बंगला होगा यह बाग होगा। मोटर होगी, शोहरत होगी, इज्जत होगी। नौकर-चाकर होंगे। मैं तो कहता हूँ कि मेरे न रहने पर यही मेरी यह निशानियाँ देशभक्ति और मेरे त्याग की यह निशानियाँ—लोग देखेंगे और भारत की आजादी के साथ इसे भी याद करेंगे।"

मैं बैठा सुन रहा था। वे कहे जा रहे थे। तभी क्षीण आवाज में उनकी पत्नी ने कहा—

"परन्तु यह सब किसके बलपर, किसके लिए यह निशानियाँ?"

कड़क कर मेरे मित्र महोदय ने बताया—

"वाह, कांग्रेस के साथ आजादी की लड़ाई में सदा आगे बढ़ कर लड़ता रहा। जेल की सूखी रोटी चबाई। तुमसे, घर से बरसों दूर रहा। और इन्हीं सब त्याग का यह फल है। लेकिन एक तुम हो कि जिसमें कोई परिवर्तन नहीं। जैसी दुखियारी पहले थी वैसी ही अब हो। न कभी कोई अच्छी साड़ी, न ज़ेवर! आखिर तुम्हीं जब इसके प्रति उदासीन रहोगी तो क्या मुझे छाती पर लाद कर ले जाना है। घरके जो जेवर-गहने थे सब तो दुर्दिन में बिक गये पर जो कुछ अब अच्छे दिन आए हैं उसमें

तो फिर बनवा लेना चाहिए। पिछली बार कहा तब भी तुमने न लिया, न बनवाया और मुझे ही सोने की घड़ी खरीदनी पड़ी। अब भी तुम नानुकुर करती हो। आखिर कल मंत्री आवेंगे, अपने मेहमान बनेंगे। भलाओ बताओ क्या इसी तरह उनके सामने जाओगी?"

तभी बहुत धीरवाणी में पत्नी ने कहा, "हाँ, यों ही कोई बुरा नहीं है। अपने-अपने सोचने का ढँग है। आपलोग तो हवा में किले बनाते हैं। हवा पी कर फूलते हैं। पर मैं नहीं। आपने इमारत बनाकर निशानी बनाई है पर मैं तो एक निशानी, जो बनानी थी, वह युगों पहले बना चुकी हूँ।"

"वह क्या?"

"तुम जब पहली बार पकड़े गये थे, तब अपने सारे गहने बेच कर तुम्हारा जुरमाना भरा था। क्या याद नहीं? और एक बार जो गहने इस देह से उतर गये — वही मेरी निशानी है। फिर बनवा कर, पहन कर भला क्यों उस प्रिय स्मृति, मधुर निशानी को मिटाऊँ।"

इतना सुनते ही मेरे कान झन्ना उठे। फिर मुझे मित्र महोदय की आवाज न सुनाई पड़ी। मैंने आसपास नजर दौड़ाई, वह माली भी नहीं था। रिक्शे का सामान भी नहीं उतरा था। लौट कर रिक्शे पर बैठा और कहा "भाई स्टेशन वापस चलो!"

"क्यों, नहीं मिले बाबू जी?" रिक्शे वाले ने प्रश्न किया।

"नहीं।" कह कर रिक्शेवाले को चुप करने के अलावा भला और चारा ही क्या था।

रिक्शा बढ़ चला और मित्र-पत्नी के शब्दों में हवा पीकर फूलनेवाले आज के आदमी की निशानियों को मैं सोचता रहा। जेल की निशानी. रिक्शेवाले की निशानी, मित्र की निशानी, मित्रपत्नी की निशानी—

ये भिन्न भिन्न मानव!

भिन्न भिन्न निशानियाँ!!

—स्वर्ग तो यहीं है, मेरे दीवानखाने के बन्द द्वार के पीछे। पर उस बन्द-द्वार की चाबी मेरी हृदय-गुफा में कहीं पड़ी है। मैं उसे खोज रहा हूँ, परन्तु अँधेरे में वह हाथ नहीं लगती। जान पड़ता है, कहीं खो गई है।

—खलील जिब्रान

कोणार्क...

(पृष्ठ ९२ का शेषांश)

मंदिर की सारी छत और दीवारें नीचे गिर पड़ेगी मेरे ऊपर, तुम्हारे ऊपर, इन नीच विश्वासघातियों के ऊपर। कोणार्क टूट रहा है, टूट रहा है – हा – हा – हा......

(वीभत्स अट्टहास; सैनिकों में खल-बली)

चालुक्य—(जो अबतक किंकर्तव्य विमूढ खड़ा था) रोको, रोको, उसे रोको। (विक्षिप्त सा गर्भगृह में घुस जाता है।)

विशु—हा''हा''हा''' शिल्पी का बदला हा''हा''हा।

(और उसी क्षण वह विशाल-काय मूर्ति नीचे गिर पड़ती है चालुक्य के ऊपर। पूर्ण अंधकार—अनेक पाषाण खंड गिरने की ध्वनि। 'बचाओ,' 'बचाओ', की पुकारें। उस अंधकार में अनेक व्यक्ति नीचे गिरते-से जान पड़ते हैं। पत्थर गिर रहे हैं। साथ ही साथ पर्दा गिरता है। उसके कुछ देर बाद उसी संगीत का महानाद सुन पड़ता है जो प्रथम अंक के प्रारंभ में सुन पड़ा था। सागर की उद्दाम लहरों के भीषण संगीत में कोणार्क के अधूरे गौरव के अवसान की कहानी ध्वनित हो रही है। क्रमशः वह संगीत कम होता जा रहा है और फिर शेष।)

पटना विजयादशमी—२००३ वि०

—जिस किसी आदमी को एकबार दूसरे आदमियों पर शासन करने का चस्का लग गया हो वह कभी भी उस नशे का पूर्णतया त्याग नहीं कर सकता। आप इतिहास के हजारों पृष्ठों की खाक छान डालिए ऐसे शासकों के दृष्टांतों की खोज में जिन्होंने स्वेच्छापूर्वक शासन छोड़ दिया हो। सहस्रों ही शासकों में शायद एक दर्जन आदमी ऐसे निकलेंगे, जिन्होंने शासन को खूब भोग लेने के बाद विरक्त होकर, समझ-बूझ कर उसका परित्याग कर दिया हो। नहीं तो इन शासकों को इसी बात में आनन्द आता है कि वे करोड़ों आदमियों के लिए ईश्वर के समान भाग्यनिर्माता युग-युगान्तर तक बने रहें।

—स्टीफन ज्विग

कलाकार की हत्या

—बेनीपुरी

अभी खबर मिली है, किसी ने प्रसिद्ध कलाकार देवदत्त चित्रकार की हत्या कर दी!

कहा जाता है, यह हत्या एक अवैध प्रेम सम्बन्ध के कारण हुई है। आततायियों ने कल रात को ही उसकी हत्या कर कुएँ में लाश डाल दी। शरीर पर छुरे के घाव थे; उसकी लाश के साथ उसकी साइकिल को भी कुएँ में डाल दिया गया था।

देवदत्त—अभी बिल्कुल नौजवान था। यों वह चित्रकार था; लेकिन उसकी प्रसिद्धि थी बाँसरी बजाने के कारण। गजब का बजाता था। कृष्ण की बाँसरी की मोहकता की एक झलक मिल जाती थी। बड़ा ही नेक स्वभाव। हँसमुख, मिलनसार। प्रेम से जब जहाँ बुलाओ, हाजिर।

ऐसे आदमी की हत्या और अवैध प्रेम के कारण!

कलाकारों के साथ यह प्रेम का व्यापार बहुत दिनों से चला आता है। कलाकार भावुक होता है। वह भावुकता फिसलाने वाली होती है। सौन्दर्य में अद्भुत आकर्षण होता है। कलाकार के पैर सौन्दर्य की फिसलन-भरी जमीन पर डगमगा जाते हैं; वह औंधे मुँह गिर पड़ता है—मटियामेट हो जाता है, संसार के मुँह से एक हल्की सी आह निकलती है—फिर सब शान्त!

किन्तु क्या कलाकार के लिए उचित है कि जान बूझ कर खड्ढे में गिरे?

जिसके गले में, जिह्वा पर, उँगली में प्रकृति ने खूबी दी—ऐसी खूबी जो संसार को मुग्ध कर दे—क्या उसके लिए उचित है कि प्रकृति की इस परम देन का दुरुपयोग करे? यहाँ पृथ्वीराज से हुई एक बात की याद आ रही है। मैं बम्बई गया था। उन्होंने सिगरेट पेश की; मैंने कहा—"क्या आप नहीं पीते?" वह बोले—"पीता था, लेकिन एक दिन एक साथी ने कहा—पृथ्वी, तुम्हारी आवाज भर्रा रही है—बस उसी दिन से सिगरेट पीना छोड़ दिया। सोचा, यह गला मेरा नहीं, राष्ट्र का है, मैं उसे क्यों बर्बाद करूँ?" फिर उन्होंने बताया कि अपने शरीर के सौन्दर्य की रक्षा के लिए वह किस तरह सचेष्ट रहते हैं।

कलाकार को अपनी कला के प्रति यही रुख तो रखना चाहिये। प्रकृति की देन को हमें बर्बाद करने का क्या हक?

देवदत्त बिहार की एक विभूति था। उसे अनुभव करना चाहिये था कि वह एक व्यक्तिमात्र नहीं। सदियों की साधना की परिणति कलाकार के रूप में साकार होती है। हमें अपने को, अपने महत्व को, अपने गौरव को समझना चाहिये।

यहाँ अपनी बात याद आती है। सिर्फ एक बार, कुछ दिनों के लिए—शायद दो-तीन सप्ताह के लिए—मुझ पर प्रेम का यह भूत सवार हुआ था। बस, मैं चेत गया। तब से अपने को स्त्रियों से दूर-दूर रखा। सारे प्रेम को अपनी पत्नी में केन्द्रित कर दिया। यह दावा कर सकता हूँ कि कभी किसी स्त्री पर बुरी निगाह नहीं डाली! जहाँ फिसलने का मौका देखा, दूर ही रहा। कभी किसी वेश्या के आमने-सामने बैठ कर गाना तक नहीं सुनने गया!

इसमें थोड़ा संयम चाहिये। कलाकार को लोग मोम का पुतला समझते हैं—थोड़ी आँच पर भी पिघल जाय। यह कलाकार जीवन का कलंक है। इसे धो देना चाहिए। भावुकता कोमलता में ही केन्द्रित क्यों हो—कठोरता में क्यों नहीं परिणत की जाय? खास कर जहाँ गिरने, बिगड़ने, बर्बाद होने की बात हो।

बार-बार देवदत्त की याद आ रही है। अब उसकी बाँसरी की कोयल काकली नहीं सुन सकूँगा—यह कल्पना ही कँपा डालती है! आह, जीवन कितना क्षणिक है!

पुनश्च—

अभी एक आदमी ने बताया, देवदत्त की हत्या छुरे से नहीं की गई। गला घोंट दिया गया था और सिर को कुचल डाला गया था। नाक और मुँह से खून का प्रवाह चिता पर जलाये जाने के वक्त भी जारी था। जेब में रुपये थे; हाथ में घड़ी थी, कान में सोने की लवंग। घड़ी बन्द हुई ३।१५ पर। एक आदमी से वह १२ बजे तक बातें करता रहा। यह हत्या १२–३ के बीच हुई!

अहा, जिसकी साँसें निर्जीव बांस के टुकड़े में जान डाल देती थीं, दुष्टों ने किस तरह उसकी साँस गला घोंट कर सदा के लिए बन्द कर दी।

जाओ साथी, जाओ! जाओ उस लोक में जहाँ किन्नरियाँ तुम्हारे लिए स्वागत-गान गा रही होंगी और अप्सराओं को आकुल बाहें तुम्हारी गर्दन में लिपटने को व्यग्र प्रतीक्षा कर रही होंगी। जाओ उस लोक में जहाँ सौन्दर्य है, संगीत है, सुगंध है और जहाँ प्रेम के साथ पाप नहीं जुड़ा है और न जहाँ मानव ऐसा हत्यारा जन्तु है!

मुजफ्फरपुर [डायरी से
११।५।५०
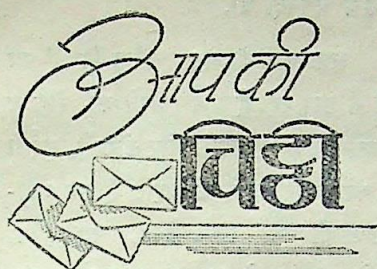
अत्यंत निजी

Strictly Private

Sarojini Devi Hosp'tal
Private ward 3, Agra

प्रिय बेनीपुरी जी,

पंचतंत्र में एक नख-दन्त-विहीन सिंह का किस्सा पढा था, जो वृद्धावस्था में एक सुवर्ण कंकण लेकर सरोवर के निकट बैठ गया था और बिचारा भगवान का भजन किया करता था। स्नान करने के लिये जो भक्त (और भगतिन !) आते उन्हें उपदेश देता था और एकाध को, जो निकट पहुँच जाते, अपना कलेवा भी बना लेता था। इसी प्रकार उसकी जीवन यात्रा चल रही थी। अन्त में उस सिंह का क्या हुआ, मैं भूल गया हूँ, पर इतना मैं जानता हूँ कि उसका कंकण किसी ने नहीं छुड़ाया ; और आपने तो मेरा वह कंकण ही छीन लिया। उक्त पत्र को पढ़ कर कितने दिलचस्प व्यक्ति चौकन्ने हो जायँगे। नैतिकता का जो आवरण मेरे चारों ओर इकट्ठा हो गया था उसे इस पत्र के प्रकाशन द्वारा आपने दूर कर दिया और अब मैं जनता के सम्मुख 'नग्नरूप' में उपस्थित हूँ। आपने तो "व्याघ्रचर्म प्रतिच्छन्न रासभ" को मार ही डाला। हितोपदेश का किस्सा आपको याद होगा कि बाघम्बर ओढे हुए गधे की कैसी मौत हुई थी। लोग समझेंगे [और वे गलत नहीं समझेंगे !] कि यह आदमी बड़ा ही धूर्त है और अब कोई महिला मुझ से बात नहीं करेगी। आपने यह अच्छा 'पर्दाफाश' किया। पर बिल्ली को आप कहीं से पटकिये वह पैरों के बल ही गिरती है। सो जनाब इस 'पर्दाफाश' का भी लाभ मैं उठालेना चाहता हूँ। अब 'मनोरंजक' व्यक्तियों से मेरी मैत्री सुलभ हो जायगी।

गॉर्की के जीवनचरित् में एक ऐसे ही व्यक्ति का जिक्र आता है, जो मेरी तरह adventerous था। उसे अरसिक धूर्तों ने मार डाला। बबासीर से मरने के बजाय उस प्रकार की मृत्यु अधिक वांछनीय होगी। अब जनाब मेरी हालत यह है कि मैं यहां अस्पताल में पड़ा हुआ हूँ। मसे उभर आये हैं और हाथी के दांतों की तरह अब भीतर नहीं जाना चाहते।

नर्सें दिन में चार बार नब्ज देखती हैं और मुझे डर है कि कहीं नब्ज छूट न जाय। ज़रा कल्पना कीजिये कि यह पाणिग्रहण दिन में चार बार होता है। आप सम्पादकीय लेख लिखने की तैयारी कर लीजिये क्योंकि मैं परलोक यात्रा के इस सरस साधन को छोड़ना नहीं चाहता। अब मैं अम्बेदकर का पक्षपाती बन गया हूं।

उन्होंने एक नर्स से ही विवाह कर लिया है। और मैं कोई स्मारक भी नहीं चाहता:—
गया श्राद्ध मौकूफ सुकवि 'लाल' सुत सों कहैं,
जहाँ चिता तहँ कूप मृगनैनी झुकि झुकि मरहिं।
सुकवि लाल ने गया श्राद्ध को भी मौकूफ कर दिया था! इससे आपके प्रान्त की, विशेषतः वियोगी जी की भयंकर आर्थिक हानि हुई। शान्ति निकेतन में जिस 'अर्श' को जन्मदिया, साबरमती आश्रम में जिसे पाला-पोसा उसका आपरेशन या वियोग असह्य है! देखिये क्या होता है!

मुझे डर है कि आप कहीं आगे चल कर इस पत्र को भी मेरे obituary के साथ-साथ न छाप दें। ऐसी फालतू चिठ्ठियाँ मैंने सैकड़ों की संख्या में लिखी हैं। जब वे आगे चल कर छपेंगी, जो चिड़ियाँ उड़ाई हैं वे कभी न कभी बसेरा लेने लौटेंगी, तो हिन्दी के नैतिक जगत में एक तूफान आ जायगा! "बड़ा ही धूर्त निकला"— यह फैसला मेरे विषय में जनता द्वारा दिया जायगा! पर अभी क्या हुआ है—आत्म-चरित लिखकर मैं स्वयं जो भंडाफोड़ करूँगा उससे ऐसा तहलका मचेगा कि तत्पश्चात् मैं शीघ्र ही कब्र में घुस जाऊँगा!

And now the piles are to be fomented! The nurse has come and biography remanis unwritten! what a tragedy! [बनारसी दास चतुर्वेदी]

श्रद्धेय चतुर्वेदी जी,

क्षमा कीजिये, यह 'सर्वथा निजी' पत्र भी मैं छाप रहा हूँ। मैं अपने को रोक न सका। आज जब चारो ओर ढोंग है, मुर्दनी है, बनने और बनाने की प्रवृत्ति है तब आप-ऐसे लोगों की ज़िन्दादिली, फक्कड़पन, हसने और हँसाने की अनवरत चेष्टा मरु-भूमि में ओयसिस की तरह आँखों को तरावट और दिल को ताजगी देती है। चौबेजी, अब आप साठा के निकट आये, डा० अम्बेडकर का अनुकरण आप क्या खाकर करेंगे? हाँ, हमारे समाज के न्याय-पण्डित, विधान-वादी अम्बेडकर यदि आप का अनुसरण करें तो समाज का महान कल्याण हो। खासकर हिन्दी-साहित्य में खिचे चेहरों, मिचो आँखों और लम्बी नाकों का दौर-दौरा है—सरसता, सहृदयता, सरलता न जानें बेचारी किस कोने में सिसकती रो रही है। आपका यह पत्र हमारे इन असा-मयिक बुड्ढों के लिए च्यवनप्राश का काम करे तो मुझे आपके इस राज को फाश करने का मुआवजा मिल जाय! यों तो, आपकी जिन्दगी ही खुली पोथी है — उसमें राज-रहस्य कहाँ? हाँ, जिनकी नाक में नासूर है, उन्हें तो हर जगह, हर समय बदबू ही मालूम होती है! भगवान ऐसे नकटों से देश को बचायें।

—बेनीपुरी
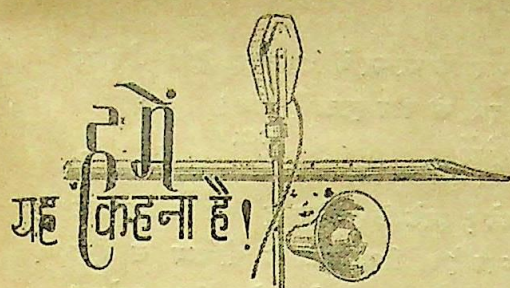
पिछले दिनों हिन्दी-संसार ने दो जयंतियाँ मनाईं—पं० माखन लाल जी चतुर्वेदी 'भारतीय आत्मा' की हीरक जयन्ती और युगकवि श्री सुमित्रानन्दनपंत की स्वर्ण जयन्ती। चतुर्वेदीजी और पंत जी हिन्दी-कविता के दो दौरों के ही नहीं, उसकी दो प्रवृत्तियों के भी प्रतीक हैं! चतुर्वेदी जी की कविता में मुख्यतः पुरुष बोला है—बलिदान की वाणी में। पंत की कविता में प्रकृति कूकी है बाल-विहगी के स्वर में। दोनो एक ही सड़क पर आगे-पीछे खड़े किये गये मील के दो पत्थर ही नहीं हैं, चौराहे पर पड़े वे तख्ते हैं, जो दो भिन्न दिशाओं की ओर इंगित करते हैं। बहुत दिनों तक ये दोनो, कविता-पथ के पथिकों को सोचने-समझने और अपने लिए पथ चुनने के पहले रुकने को मजबूर करते रहेंगे। कवि 'प्रसाद' के शब्दों में इनमें से एक-एक की वाणी कह रही है और कहती रहेगी—

'मैं एक पकड़ हूँ जो कहती—ठहरो, कुछ सोच-विचार करो!'

×× ×× ××

ये जयन्तियाँ तो मनीं, किन्तु किस तरह! एक तरफ हमारे नेताओं की, उनसे भी बढ़ कर, हमारे मिनिस्टरों की जयंतियाँ मनाई जा रही हैं—धूमधाम से; लाख-लाख की थैलियाँ, मोटे-मोटे अभिनन्दन ग्रंथ, हवाई जहाजों पर आमद-रफ्त, लम्बे-लम्बे व्याख्यान; अखबारों के कलेवर पर कलेवर रंगे जा रहे हैं! दूसरी तरफ ये जयंतियाँ—कुछ पत्रों ने एक-दो विशेष लेख लिख दिये; एकाध ने विशेषांक निकाल दिया, शहर के किसी कोने में दस-पाँच व्यक्ति मिलकर, दो चार मालायें डाल कर, कुछ कह सुन कर चलते बने! वाणी के वरद पुत्रों के प्रति ऐसी उपेक्षा! इसकी निन्दा की जाय या इसपर रोया जाय!

×× ×× ××

क्या यह सच नहीं है कि कुछ दिनों के बाद ये नेता भुला दिये जायँगे; इन मिनिस्टरों का कोई नामलेवा भी नहीं रह जायगा; किन्तु हमारे ये कलाकार तब भी स्मरण किये जायँगे, उनकी कीर्ति-कथायें कहते लोग अघायेंगे नहीं—कितनी किम्वदन्तियाँ बन जायँगी; कितनी लोकगाथायें गढ ली जायँगी। जिनके शब्दों को हम आज अनसुना कर रहे हैं, उनके अक्षरों के लिए हम तरसेंगे, तड़पेंगे, मुँहमाँगा दाम देकर उन्हें खरीदना चाहेंगे। हम जयन्तियाँ मनायेंगे; स्मारक तैयार करेंगे! इतिहास साक्षी है—'ताज' के निर्माता को

लोग भूल गये; 'मानस' का रचयिता आज भारत के घर-घर में विराज रहा है। और उस जमाने के दस हजारी, पाँच हजारी मनसब-दारों को कौन पूछता है आज !

XX XX XX

यहाँ एक प्रश्न—क्या हम अपने साहित्यिकों की जयन्तियाँ, अपनी साधन-हीनता के बावजूद इससे अच्छी तरह से नहीं मना सकते ? इसके लिए अपेक्षा है संगठित प्रयत्न की एकमात्र और यह किसी संगठन-द्वारा ही सम्भव है। हिन्दी वालों के सौभाग्य से ऐसा संगठन हमारे पास है भी—हमारा मतलब है हिन्दी साहित्य-सम्मेलन से। किन्तु, सम्मेलन को तो परीक्षा सम्बन्धी उलझनों से ही फुर्सत नहीं। श्रद्धेय टंडनजी ने एक बार कहा था—तुम्हारे यहाँ के ही एक फक्कड़ साहित्यिक थे, श्री चन्द्रशेखर शास्त्री जी। उन्होंने कहा था—टंडन, देखो, मधु इकठ्ठा कर रहे हो, अब मक्खियाँ भिनकेंगी ! क्या सचमुच आज सम्मेलन में मक्खियाँ नहीं भिनक रही हैं ? हिन्दी की इस एकमात्र प्रतिनिधि संस्था को फुर्सत कहाँ कि वह अपने साहित्यिकों, उनके कर्तृत्वों, उनके अभाव-अभियोगों के प्रति ध्यान दे।

XX XX XX

जिस परिस्थिति में सम्मेलन की स्थापना हुई, शायद उसके साथ ही ये सब अवांछनीय बातें जुड़ी थीं। हमारा ध्यान तब मुख्यतः प्रचार की ओर था और हिन्दी को राष्ट्रभाषा-पद दिलाने के लिए हम जमात जुटा रहे थे, गोल बांध रहे थे। फलतः वे लोग भी घुस आये और हमने उन्हें बर्दाश्त किया, जिन्हें हम अपने बीच में देखना भी नहीं चाहते। किन्तु अब छँटैये का वक्त आगया है। अब बगुलाभगतों को अलग करना होगा—साहित्य का मानस राजहंसों के लिए ही है ! किन्तु, यह हो कैसे ? बगुलों की संख्या जो बड़ी है और उनका काँ-काँ भी तो भयावना होता है ! स्थिति गम्भीर है, किन्तु, हमें इसका सामना करना ही पड़ेगा।

XX XX XX

हिन्दी साहित्य सम्मेलन की प्रतिष्ठा उसी दिन धूल में मिल गई जब जयशंकर प्रसाद और प्रेमचंदजी ऐसे लोग उसके सभापतित्व के पद को सुशोभित किये बिना ही चल दिये और वह कीचड़ में फँसी है, तभी तो मैथिलीशरण, महादेवी, निराला, पंत ऐसे कलाकार उससे किनाराकशी किये हुए हैं। उसे इस दलदल से निकालना है। यह तभी सम्भव है जब सम्मेलन का नये सिरे से संगठन किया जाय। हैदराबाद में जिन लोगों ने सम्मेलन की नियमावली में संशोधन का प्रस्ताव रखा था, उनकी मंशा यही थी। यह प्रसन्नता की बात है कि इस शुभकार्य के लिए सम्मेलन का विशेष अधिवेशन पटना में इसी महीने में होने जा रहा है। बिहार की राजधानी यह सौभाग्य प्राप्त करे कि उसने सम्मेलन को उसके योग्य स्थान पर पुनः प्रतिष्ठित किया; हम बिहार निवासियों की इससे बढ़ कर दूसरी कामना क्या हो सकती है ?

अशोक प्रेस

की

साहित्यिक पुस्तकें

राजासाहब
लिखित :

पुरुष और नारी
टूटा तारा
सूरदास
गांधी टोपी
सावनी समाँ
राम-रहीम
संस्कार

पगला झरना
[डा० सत्यनारायण]

शतरूपा
[पांडेय नर्मदेश्वर सहाय]

एक रात और अन्य कविताएँ
[सेवक]

अन्तरा
[रमण]

बलराज
[श्री मनोत]

श्री उदयराज सिंह
लिखित :

नवतारा
रोहिणी
अधूरी नारी

❀

अन्य पुस्तकें

अभिशाप
प्रो० 'अचल'

दुनिया की तस्वीर
प्रो० सूर्यनारायण ठाकुर

दो नवीनतम पुस्तकें

सारिका
आचार्य शिवपूजनसहाय

सहकारिता
श्री शान्तिप्रकाश

मुद्रक—श्री अशर्फीराय शर्मा, अशोक प्रेस, पटना